Hemant Rao
P.U.C.

1966



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

स्वर्ण जयन्ती



विशेषांक

प्रज्ञा

विशेषांक





Subscription Rates (per issue) :—

U.S.A.	...	...	$1
U.K.	...	...	sh10
India	...	...	Rs. 5.00
B.H.U.	...	...	Rs. 3.00

RULES

(1) The "Prajña", shall, so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Dipāwali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prajña", B.H.U. Journal, Varanasi-5.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the College Editor before ... first issue and November 20 for the next ... d reach the Editorial Board on July 30 ... spectively.

... rdinarily be type-written on foolscap paper ... y and should not ordinarily cover more ... Teacher authors contributing original ... ournal are entitled to receive 50 off-prints ... students will get 25 off-prints.

... y technical nature will not be entertained.

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

स्वर्ण जयन्ती

विशेषांक

प्रज्ञा

विशेषांक





काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना



हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विषय सूची

मालवीय-वचन

(पूज्य मालवीय जी के लेखों से संकलित)

हिन्दू विश्वविद्यालय की संस्थापना विद्यार्थी के भीतर शारीरिक बल के साथ धर्म की ज्योति और ज्ञान का बल भरने के लिए हुई है, इसे सदैव स्मरण रक्खो !

... ...

हम धर्म को चरित्र-निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते हैं। हम देशभक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं जो मनुष्य को उच्चकोटि की निःस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है।

... ...

पृथ्वी-मंडल पर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है वह धर्म है और वह धर्म सनातनधर्म है।

... ...

यह शरीर परमात्मा का मन्दिर है। ईश्वर को सदैव अपने भीतर अनुभव करो और इस मन्दिर को कभी अपवित्र न होने दो।

... ...

इस पवित्र मन्दिर का रक्षक ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही हमें वह आत्मबल देता है जिसके द्वारा हम संसार को जीत सकते हैं।

... ...

सभी कार्यों में शीलवान बनो। शील ही से मनुष्य मनुष्य बनता है। "शीलं परं भूषणम्"-- शील ही पुरुष का सबसे उत्तम भूषण है।

... ...

पढ़ते समय सारी दुनियाँ को एक ओर रख दो और पुस्तकों में, लेखक की विचार-धारा में डूब जाओ। यही तुम्हारी समाधि है, यही तुम्हारी उपासना है और यही तुम्हारी पूजा है।

... ...

हिन्दी भाषा को यदि मैं आपके सामने यह कह दूं कि यही सब बहिनों में माँ की पहली अच्छी पुत्री है, अपने माता और पिता की होनहार मूर्ति है तो अत्युक्ति न होगी।

... ...

जब हिन्दी का सब बहनों से सम्बन्ध है और ऐसी जब यह बड़ी बहन है, तब इसको मानकर यदि प्रान्त-प्रान्त की भाषाओं का सेवन किया जाय तो बहुत ही उपकार होगा।

... ...

विजली की रोशनी से रात्रि का कुछ अन्धकार दूर हो सकता है, किन्तु सूर्य का काम विजली नहीं कर सकती। इसी भाँति हम विदेशी भाषा के द्वारा सूर्य का प्रकाश नहीं कर सकते। साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा द्वारा ही हो सकती है।

... ...

भारत धर्मप्रधान देश है। इसके चारो कोनों पर चार धाम हैं। अब आप ही सोचिए कि धार्मिक सम्बन्ध से सारे भारतवर्ष में कौन सी भाषा से काम चल सकता है। मेरी समझ में इसके लिए हिन्दी का ज्ञान वहुत आवश्यक है।

... ...

हमारे देश के भाइयों के मरने-जीने का न्याय हो; पर हो वह दूसरी भाषा में; यह कैसे आश्चर्य की बात है? वास्तव में न्याय उस भाषा में होना चाहिए जिसका एक-एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है।

... ...

मनुष्य को परमात्मा ने सबसे बड़ी निधि बुद्धि दी है। जो वस्तु बुद्धि को मैली करती है या हर लेती है उसको मादक अर्थात् नशोला द्रव्य कहते हैं। मनुष्य को उचित है कि किसी प्रकार का नशीला पदार्थ कभी ग्रहण न करे।

... ...

"न च मातृसमो गुरुः" पिता से दसगुना दर्जा माता का है। इतना उन्हें पढ़ा दो कि बच्चों को वह अपनी मातृभाषा में गुणा-भाग सिखा सकें। सौ श्लोक अथवा दोहों के रत्नों की माला पहनाकर स्कूल में भेजें कि गुरु कह दें कि यह किस बड़भागिनी की कोख का बच्चा है?

... ...

मैं तो रेल में चलता हूँ और सन्ध्या का समय आने पर सन्ध्या कर लेता हूँ।

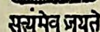
... ...

आप उन्हीं वस्तुओं को खरीदिए जिनके खरीदने से अपने गरीब भाइयों को कुछ पैसा मिले।

... ...

कुल गीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी,
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी।
बसी है गङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
मधुर०—॥
नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर,
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर।
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी।
मधुर०—॥
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा,
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा।
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी।
मधुर०—॥
वे वेद ईश्वर की सत्यवानी,
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी।
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी।
मधुर०—॥
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले,
सुधर्म पथ पर चलानेवाले।
यहीं फले-फूले बुद्ध शङ्कर, यह राज-ऋषियों की राजधानी।
मधुर०—॥
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी,
नहाए जिनमें कबीर तुलसी।
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वाग्विद्या की राजधानी।
मधुर०—॥
विविध कला अर्थशास्त्र गायन,
गणित खनिज औषधि रसायन।
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी।
मधुर०—॥
यह मालवीजी की देशभक्ति,
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति।
प्रगट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी॥



राष्ट्रपति भवन, नयी दिल्ली-4.
RASHTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI-4.

दिसम्बर 18, 1965
अग्रहायण 27, 1887 (शक)

यह प्रसन्नता का विषय है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अपने सेवा काल के ५० वर्ष पूर्ण कर अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाने का आयोजन कर रहा है। मैं इस शुभ अवसर पर विश्वविद्यालय के पदाधिकारियों एवं छात्रवृन्द को अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

स. राधाकृष्णन

(स० राधाकृष्णन्)

प्रधान कुलपति का स्वर्णजयन्ती सन्देश

यह परम हर्ष का विषय है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जो विद्या और संस्कृति का महान् केन्द्र है और जो महामना पंडित मदनमोहन मालवीय द्वारा अर्धशताब्दी पूर्व स्थापित हुआ था, निकट भविष्य में अपनी स्वर्णजयन्ती मनाने जा रहा है। यह प्रत्येक भारतीय के लिए आनन्द का अवसर है, किन्तु हम जैसे लोगों के लिए, जिन्हें इस महान संस्था के साथ साक्षात् सम्बन्धित होने का गौरव प्राप्त है, इस स्वर्णजयन्ती का विशेष महत्व है। मैं इस में अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि यह जयन्ती ऐसे समय पर मनाई जा रही है जब मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का प्रधान कुलपति होने का गौरव प्राप्त है।

मैं इस संदेश के द्वारा उन सभी लोगों को अपना अभिनन्दन और निजी शुभकामना प्रेषित करता हूँ जो इस समय विश्वविद्यालय में अध्यापक तथा विद्यार्थी हैं, और उनको भी जो इस महान् संस्था से शिक्षा ग्रहण करके हज़ारों की संख्या में भारत तथा विदेशों में फैले हुए हैं। इस स्वर्णजयन्ती के शुभ अवसर पर हम फिर से प्रतिश्रुत हों कि हम वास्तविक शिक्षा के उच्च आदर्श, राष्ट्रीय उत्थान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की वृद्धि के लिए कटिबद्ध रहेंगे, जो आदर्श मालवीय जी के परम प्रिय थे। वास्तव में यही आदर्श काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भविष्य के आध्यात्मिक निर्माण के भी निश्चित रूप से विधायक रहने चहिए। विशेष रूप से जो युवक और युवतियाँ इस विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करते हैं और जो इसके वास्तविक जीवन स्रोत हैं, उनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे इन आदर्शों को हृदयङ्गम करें और इन्हें अपने जीवन तथा अन्तरात्मा का अभिन्न अङ्ग बनाएँ।

कर्ण सिंह

(कर्ण सिंह)

विश्वविद्यालय-प्रशस्ति[1]

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

अनुभूति भवन विभूति वैभव
भुवन जन भावन ढरें।
कर सफलतामय सकल साधन
विफलता मति की हरें।
सुरसरित शुचि तम सित सलिल विलसित
अवनितल में बसे।
कर लाभ सुरगुरु सम विशद पद
शारदा सेवक लसे।
शिवधाम काशी में कसे तन
ज्योति जन जन में जगे।
रविसम विवेक विकास मय से
भभर भारत तम भगे।
आनन्द वन में युवकदल को
वह नवल फल दल मिले।
जिससे सफल हो मनुज-जीवन
कलित उर कलिका खिले।
तप भूमि में तप निरत तापस
हो तपोबल से वली।
कर दे सुखित दुख विजित क्षति को
वितर विरदावलि भली।
वहु विदित विद्यापीठ में वह
सुमति सरि बहती रहे।
जिसके प्रबोध प्रवाह में
सब विद्यमान विपद बहे।
महिमा मनोहर मदनमोहन
मोहिनी मोहित करे।
भव अखिल विभव अभावहर
प्रतिभाव में अनुभव भरे।
सफलित अमित गौरववलित
अति ललित चरित सुअन जने।
बुध जन विबुध जन वंद्य
हिन्दू विश्वविद्यालय बने।

1. Malaviya Commemoration Volume 1932-Editor.

सैक्युलर-राज्य

श्री प्रकाशवीर शास्त्री

संसद–सदस्य (लोक सभा) दिल्ली

भारतीय संविधान में जब शासन व्यवस्था के साथ सैक्युलर शब्द जोड़ा गया तो उसका स्पष्ट अभिप्राय था शासन किसी भी सम्प्रदाय विशेष को अपनी ओर से प्रोत्साहन नहीं देगा। भारत में हर सम्प्रदाय को अपनी विचारधाराओं के प्रचार की स्वतंत्रता रहेगी। परन्तु नहीं कहा जा सकता कब और किसने सैक्युलर शब्द का अनुवाद धर्म-निरपेक्ष कर दिया? उससे यह समझा जाने लगा कि शासन का धर्म से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी प्रकार का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी भ्रम में भारतीय शिक्षण संस्थाओं में धर्म-शिक्षा पर रोक लगा दी गई। मुगलों और अंग्रेजों के शासन में भी जिस आदर्श शिक्षा-पद्धति पर प्रतिबन्ध नहीं था वह स्वतंत्र-भारत में बन्द कर दी गई। परिणाम स्वरूप छात्रों में अनु-शासनहीनता और अपने दायित्वों से दूर भगने की प्रवृत्ति का उदय होने लगा। जो प्रवृत्ति मनुष्य को उसके कर्त्तव्यों की ओर सदैव जागरूक रखती है उसका धीरे-धीरे अभाव होता चला गया।

संध्या के झुटपटे में सोने के आभूषणों से लदी एक महिला सड़क से गुजर रही थी सामने से चले आ रहे एक व्यक्ति का मन उसे देखकर आर्थिक प्रलोभन में फँसा। वह सोचने लगा कुछ आगे जाकर जब यह आने वाली छोटी गली के कोने से मुड़ेगी जहाँ बहुत अधिक अंधेरा है तो वहाँ पहुँचते ही इसका गला दबाकर हत्या कर दूंगा। इस तरह हजारों रुपए का आभूषण लेकर मैं चलता बनूंगा। यहाँ यह विचारणीय है कि अभी उसके मन में केवल यह पाप ही उदय ही हुआ है, किसी ने उसके अन्दर झांककर उसका यह पाप भाँपा भी नहीं है ऐसे में दुनिया की कोई पुलिस या गुप्तचर विभाग क्या उसके इस भयंकर निर्णय पर उसे दण्ड दे सकेगा? लेकिन यदि उसे ईश्वर में विश्वास है और वह जानता है मेरी इस विचारधारा को वह सर्वशक्तिमान देख रहा है तो स्वयं उस बुराई से हट जाएगा। पर यदि उसके मन में धर्म, ईश्वर और पाप-पुण्य नाम की कोई भावना ही नहीं है तो फिर उसे किसका भय? दुनियाँ से जिस दिन ये भावनाएँ पूरी तरह समाप्त हो जाएँगी उस दिन यह संसार केवल स्वार्थान्ध लोगों का एक समुदाय बनकर रह जाएगा। जिसकी उम्र बहुत लम्बी नहीं हो सकेगी। आज भी जहाँ-जहाँ भौतिकवाद का प्रभुत्व बैठता जा रहा है वहाँ इसके प्रमाण स्पष्ट देखने को मिल जाएँगे। खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ की पशुओं वाली प्रवृत्ति के अतिरिक्त वहाँ और कुछ देखने को नहीं मिलेगा।

जहाँ तक सैक्युलर पद्धति से चलने वाली सरकारों का सम्बन्ध है जैसे इंग्लैंड और अमेरिका में उनके सर्वोच्च शासक महारानी और राष्ट्रपति धर्म के रक्षक एवं उसके प्रसार में सहायक माने जाते हैं। सैक्युलर शब्द का अर्थ वहाँ केवल इतना ही है कि राजा के धार्मिक विचारों के अतिरिक्त भी जो धार्मिक विश्वासों में आस्था रखने वाले व्यक्ति हैं उनपर

शासन किसी प्रकार का दवाव नहीं डालेगा। अमेरिका में तो प्रत्येक धर्म के पूजा-स्थानों की पवित्रता बनाए रखने के लिए शासन की ओर से सहायता देने की भी व्यवस्था है। साम्यवादी देशों के अतिरिक्त धार्मिक और नैतिक मान्यताओं को उद्बोधन देने की प्रवृत्ति थोड़े वहुत हेरफेर से लगभग सब जगह ही देखने को मिलेगी।

धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं को हृदय की गहराइयों तक पहुँचाने का काम तीन स्थानों पर होता है। माँ-वाप की गोद में, शिक्षण संस्थाओं में और उसी तरह के सार्वजनिक संगठनों में। पर माँ-वाप के दिए विचारों को निखारने का मुख्य काम विशेषरूप में शिक्षण संस्थाओं का ही है। सार्वजनिक संगठन तो उन पर अपने समर्थन की मुहर लगाते हैं अथवा फिर उन्हें दिशा देने का काम करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इसी वात को इन शब्दों में लिखा है—

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोवेद।

अर्थात् मनुष्य के संस्कार बनाने में माता-पिता और आचार्य का अपना प्रमुख स्थान है। भारत में भी स्वतन्त्र होने के बाद सरकार ने इस ओर कुछ ध्यान दिया। महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश की अध्यक्षता में एक समिति इसके लिए देश के प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों की बनी। उस समिति ने सर्व-सम्मति से बनी यह रिपोर्ट दी कि शिक्षा में धर्म का स्थान अनिवार्य है। लेकिन वरसों पहले आई उस रिपोर्ट पर इसलिए कोई निर्णय नहीं हो सका है कि उस धर्म-शिक्षा का रूप क्या रखा जाय ? हिन्दू धर्म-ग्रंथों के कुछ भाग लेकर यदि पाठविधि में रखे जाँय तो मुसलमान नाराज होंगे, इसी तरह मुसलमानों के धर्मग्रंथों अथवा ईसाइयों के धर्म-ग्रंथों से कुछ भाग लिए जाँय तो हिन्दुओं को आपत्ति होगी। परन्तु इन सब ग्रंथों में धर्म की व्याख्या तो समान ही रूप से की गई है। क्यों न उन बातों को धर्म-शिक्षा की पाठविधियों में सम्मिलित किया जाय जो सब के लिए समान रूप से ग्राह्य हों ? व्यक्ति, देश और वर्ग-विशेष की सीमाओं में आकर जब धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है तो वे सम्प्रदाय हो जाते हैं। पर जब इनसे ऊपर उठकर मानवता और विश्ववन्धुत्त्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कहीं किया जाता है वह धर्म की सीमा में आता है। बुद्ध का वहुजन हिताय और वहुजन सुखाय का संदेश कभी और किसी के लिए भी आपत्ति का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपनिषदों का—

सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः

यह सन्देश भी संकुचित दृष्टिकोण का सूचक नहीं माना जाएगा। महाभारत और रामायण में भी व्यास और वाल्मीकि ने जो मनुष्यमात्र की कामना से कलम उठाई है भला वह कैसे किसी के लिए आपत्ति का विषय वन सकती है ? यह बात दूसरी है किसी को इन ग्रन्थों के नाम में ही यदि साम्प्रदायिकता झलकती है तो फिर उसका क्या उपाय किया जा सकता है ?

स्वराज्य के आन्दोलन में वाल गंगाधर तिलक, गोखले, मालवीय जी और गांधी जी जिस स्वराज्य की कल्पना करते थे उसमें राज्य से पहले जो 'स्व'—शब्द लगा हुआ है उससे उनका अभिप्राय था स्व-संस्कृति, स्व-भाषा, स्व-वेश। यदि स्वराज्य आने के बाद यह तीनों

नहीं आए तो उसे राज्य आना तो कहा जाएगा पर स्वराज्य की परिभाषा में वह नहीं आ सकेगा। भारतीय ऋषियों और सन्तों ने जिस धर्म की व्याख्या की है उसमें सीमित विचारधाराओं का कहीं समावेश ही नहीं है। मनु ने हाथ उठाकर जब विश्व को शान्ति और सद्भावना का पाठ पढ़ने के लिए भारत आने का आमन्त्रण दिया था तो उसमें भी यह ही सब भाव निहित थे। शताब्दियों तक ही नहीं अपितु सहस्राब्दियों तक भारत के प्रमुख नगरों और नालन्दा एवं तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों से यह ही संदेश प्रसारित होते रहे। देर या सवेर होंगें तो वह फिर भी। परन्तु शीघ्र यदि आरम्भ हो जाते तो कई बुराइयों से नई पीढ़ी बच जाती।

———

OUR NEW UNIVERSITY*

DR. SIR C. V. RAMAN

'Many a time when travelling in America, I was called upon to speak of India, of India's ancient civilization and of her new renaissance. They were anxious to hear of our country. When I accepted such invitations, I had to unfold a picture of our people, to paint in words India as she was and she is to-day. Do you think I spoke of Madras or of Calcutta ? No. I spoke of Benaras, of the historic city on the ridge overlooking the Ganges which stands at the very heart of India, as the living centre of our ancient culture and learning. I spoke of the new University which has sprung up so fitly, at this age-old seat of learning and is the living embodiment of the aspiration of new India. That was the message I gave to America'.

---

*From the convocation address of Dr. Sir C. V. Raman, 1927.

ALL INDIA UNIVERSITY*

H. E. LORD IRWIN

'Almost eleven years ago Lord Hardinge, in laying the foundation-stone from which this great institution has risen, expressed the hope that the University might come to be a place of many-sided activities, proposed to equip young men for all the various walks of life. His hopes have not been believed. Those who have directed the growth of this University—and I know how much the University owes to its Vice-Chancellor—have laid their plans wisely and pursued them well. In the choice of their site and the character of their buildings they have striven to create the real academic atmosphere, impalpable but always powerful to influence the minds of those who are brought within its range. They have afforded opportunities for the study of a wide variety of subjects intellectuals and practical, theological and scientific, adequate to give a young man the mental equipment he needs to face the manifold problems of life. They were, I believe, the first to adopt here the organisation of a residential teaching institution. Your system of housing the different departments, with their hostels in separate contigenous buildings, allows not only for specialisation in study but also for a common social life out side the class. And both are of the essence of the real University life."

---

*From an address by L. R. His Excellency Lord Irwin when laying the foundation stone of Sayaji Rao Gaekwad Library, 1927.

THE NATIONAL UNIVERSITY*

THE HON'BLE RAMSAY MACDONALD

"The Banaras Hindu University is to be national. It is to teach its own students, who are to be resident. Its religious atmosphere is to be Hindu. There can be no doubt that if this University is fortunate in its beginning, it will become the great seat of learning in India. Not the Government Colleges, but this will attract the Indian youth piously seeking knowledge, and the scholar piously teaching it. Here India has its chance of showing what is in it. But it must remember certain things from the very beginning. A University must not be brought down to low levels in order to accommodate youths who would like to have degrees, but whose education cannot carry them. A University must be bold even in claiming its intellectual independence. A University must not be a golden gate-way to office so much as a temple where men go for refreshment and guidance and equipment for living. A University must have a tradition, it must be a commune whose sovereignty is accepted by its students through life. And finally, a University is a place not where men are examined, but where they are educated. The Hindu University of all Indian Universities, has the best chance of following high ideals."

---

*'From the Government of India' 'the swarthmore Press, Ltd.,

IN MEMORIAM

Dr. A. B. MISRA

(*Central Drug Research Institute, Lucknow*)

"*A beneficent person is like a fountain watering the earth and spreading fertility*"

—Epicurus

Men, who have crossed the prime of their lives, have some lingering memory of the Founder of the Banaras Hindu University ,but the generation that has just emerged out of its teens does not even have a conceptual picture of him, because he departed from the world when they were still in their cradles. It is primarily for their benefit that the following word-picture of the Father of the University is essayed.

Pandit Madan Mohan Malviya fathered the idea of a Banaras Hindu University in the early part of the twentieth century. As early as 1904, he put forward a proposal at the Mint House in Banaras under the presidentship of His Highness the Maharaja of Banaras to found a Hindu University. From that day till his death, he worked ceaselessly to promote the cause and the interests of the Hindu University. Amidst his many activities, he found time to work for the Hindu University and it is doubtful if the University was ever absent from his mind. As an All-India leader, he had much to do with controversial problems but he always found some time to look after the interests of the University. He pursued the project of establishing a Hindu University with a zeal that confounded every body.

In 1904 the proposal was first made ; in 1905 the Prospectus of the University was presented ; in 1906 support of the Sanatan Dharm Sabha was sought ; in 1910 the Revised Prospectus of the University was issued ; in 1911 the Hindu University Society was registered ; in 1912 three related schemes were amalgamated ; in 1914 terms of amalgamation of Besant

Central Hindu College Association with the Hindu University Society were finalised; in 1915 the Hindu University Bill was introduced and the University Act passed and in 1916 the Foundation Stone of the University was laid by Lord Hardinge. The events leading to the establishment of the Hindu University moved so fast between 1904 and 1916 as to daze and dazzle everybody. There were eminent men, at that time, who doubted if Malviyaji will ever succeed in his attempt to establish a university of the kind that he had in view. Some of them even thought him to be a *crystal gazer*. But Emerson has rightly said that "*if a single man plant himself indomitably on his instincts, and there abide, the huge world will come round to him*".

During the period of twelve years, from 1904 to 1916, Malviyaji was flitting across the country, from place to place, visiting peasants and princes explaining to them the aims and objects of the contemplated university and pleading with the intellectuals, rajas, maharajas and merchant princes to support the cause espoused by him, and to donate funds for the Grand Object. Since *Am Golde hängt doch alles*, he bent himself to the task of collecting funds in feverish haste.

In those far off days, Malviyaji performed a miracle by collecting 48 lacs of rupees for the Hindu University in less than two years after the passing of the Act. It is true that, in this endevour, he was assisted by H.H. the Maharaja of Banaras, H.H. the Maharaja of Bikaner and Maharajadhiraj of Darbhanga, who lent him their moral and material support for the furtherance of the object so dear to him. But for the munificence of the Maharaja of Banaras, the university could not have been built on the land on which it stands today. We may now regard it to be a matter of small importance for the Princely House of Banaras to have parted with the large acreage of land in order to house the Hindu University, but it needed some charity and lot of patriotism in the donor to perform such a feat. Maharaja Sir Prabhu Narayan Singh of Banaras, as a Defender of Hindu Faith, had little difficulty in giving away

the fertile fields and pastures lying across the river Ganga for building thereon the corpus of the Hindu University. Maharaja Sir Rameshwar Singh of Darbhanga travelled with Malviyaji, from place to place, at no small inconvenience to himself, to introduce Malviyaji to the brother princes and to solicit their help for the great Cause. The Maharaja of Bikaner, with the folded skirt of his *Achkan* walked in the Cowasjee Jehangir Hall in Bombay from seat to seat, collecting donations for the Hindu University. The story of the early days of the Hindu University makes a thrilling reading. Within a few years hardly any prince or commercial magnate was left in India who did not make a contribution to the coffers of the University.

On the one hand, Malviyaji was busy collecting funds, on the other he was busy finalising the lay-out plan of the 'Varsity with the help of Sir Ganga Ram and Raja Jwaja Pershad. Simultaneously, he was busy collecting round himself men of eminence, culture and learning of the calibre of Dr. Sir Sunderlal, Raja Sir Moti Chand, Sir P. S. Sivaswami Iyer, M. M. Pandit Aditya Ram Bhattacharya, Dr. Sir Tej Bahadur Sapru, Dr. Sir Rashbehari Ghosh, Pandit Ramavatar Sharma, Prof. Jadunath Sarkar, Dr. Ganesh Prasad, Dr. Radhakamal Mukerjee, Pandit Panchanan Tarkaratna, M. M. Pandit Pramnath Tarkabhushan, Prof. P. K. Telang, Acharya J. P. Kripalani, Dr. S. S. Bhatnagar, Dr. Birbal Sahni, Principal Charles A. King and many others. Let the readers form their own estimate of Malviyaji from the facts recounted here, but to me he was

"*A man so various, that he seemed to be,*
Not one, but all mankind's epitome."

—Dryden

In the midst of such activities and duties and obligations contingent on them he found time to live the austere life enjoined by his *Dharma* and to snatch hours of rest and of meditation to God. He had an *air distinguè* about him ; his spotless white dress, *dupatta* and *tilak* on the forehead marked him off

from the rest of men of his days. Rarely do we meet in one combined so beauteous a body and such a virtuous mind.

"*His life was gentle, and the elements,*
So mixed in him, that Nature might stand up,
And say to all the World : This was a man' –
—Shakespear

Malviyaji collected in the first heat of his rounds, between 1917-1922, a crore of rupees for the Hindu University which earned for him the title of the *Prince of Beggars* from no less a person than Mahatma Gandhi. The country was plunged in the Gandihan Movement from 1922 to 1942, Malviyaji was worn down by age, his travels and movements had become restricted in extent and frequency, *but his actions spoke louder than words* and money trickled into the University Chest to the extent of an additional sum of 64 lacs. Under his care, the growth of the Univeristy was *phenomenal*. In 1917-18, the number of students enrolled in the 'Varsity figured at 400. In 1939-40, when he retired from the Vice-Chancellorship, the number rose to 3600. Malviyaji dreamt of 10,000 pupils in his Seminary and once told me that, God willing, a time will come when the university will extend from Bànaras to Mirzapur. But, alas ! *old times are changed, old manners gone.*

Malviyaji strove to make Hindu University an All-India Institution, where students from dififferent parts of the country, belonging to various grades of society, professing diverse faiths could assemble under one common roof and pursue their studies under celebrites. In his life-time, this wish was fulfilled because in 1940-41, the Enrolment Register showed that the students came from all the four corners of the country to the Banaras Hindu University as the figures given below will show :

Province or State	Number of students	Province or State	No. of students
U.P.	1910	Assam	73
Bengal	117	N.W.F.P.	38
Madras	300	Sindh	26
Travancore State	49	Baluchistan	3
Cochin State	26	Jammu & Kashmir	11
Bihar	646	Mysore & Coorg	53
Orissa	22	Hyderabad	28
Punjab	141	Delhi	33
C.P. & Berar	274	Bombay	130
Rajputana	170	Burma	2
Central India	108	Nepal	3
		Other places	6

In the foregoing pages, I have briefly recounted the early history of the Hindu University and the part played by Malviyaji in bringing it into existence. It was a superhuman effort on the part of Malviyaji and may be compared to the efforts of Bhagirath in bringing Ganga from heaven to earth. When the Hindu University Act was passed Malviyaji had to shoulder the entire responsibility of the venture from A to Z for 24 years.

In this story of the birth and growth of the Hindu University a deep meaning resides that should not be lost upon the new generations of Hindus. Malviyaji was a man of thin build. In fact, he was all bones and no meat, and yet he could summon boundless energy to serve the causes espoused by him. What was the source of all this energy in him? It was *amor patriae*.

It is said that a great man living for high ends is the divinest thing that can be seen on earth. The campus of the University is a consecrated spot because he trod upon it. Hindu University is only a lengthened shadow of Malviyaji.

Malviyaji was a man from the people and lived for the people. He rose to the top of the social and political hierarchy by reason of the qualities of his head and heart. Rightly has it been said that.

"*Honour and shame from no condition rise;*
Act well your part, there all the honour lies".

शुभाशंसनम्

(आचार्यः श्रीप्रियव्रतशर्मा, स्नातकोत्तरायुर्वेदीयसंस्थान—निर्देशकः)

(१)

काश्यामस्याममितमहिमा मालवीयो विपश्चित्
कश्चित्तेने नवलतपसां भासमानं वितानम् ।
शीलाचारप्रवणधिषणोद्बोधनार्थे समर्थम्
शिक्षाकेन्द्रं बहुजनहितायाद्वितीयं द्विजेन्द्रः ॥

(२)

हिंकारैर्यो दुरितनिवहं द्राक् सुदूरीकरोति
सत्याधारः समुपदिशति ब्रह्मचर्यं च वर्यम् ।
दूरीकुर्वन् सघनतिमिरं देशप्रेम्णाऽऽत्मयोगात्
कोऽसौ सूर्यस्तपति भुवने तेजसा द्योतमानः ॥

(३)

विद्याः सर्वा विविधविषयाः काममध्यापयन्ति
विद्वद्वर्याः गुरुकुलवरे यत्र छात्रानसंख्यान् ।
श्वासे श्वासे विबुधनिवहाः ब्रह्म नित्यं जपन्तः
गीतामेताममृतसदृशां यत्र सर्वे पिबन्ति ॥

(४)

विश्वव्याप्तं धवलयशसा नाम यस्यास्ति शुभ्रम्,
विद्वद्वर्गेऽप्यतुलकलया यत्प्रभावो विभाति ।
द्यौरद्यापि प्रणतशिरसा यत्पताकां दधाति
ब्रह्मज्योतिःपरिगततपःपूततेजःप्रदीप्ताम् ॥

(५)

लक्ष्यं क्षात्रं पुनरनुसरन् ब्राह्ममग्रे दधानः
पञ्चाशद्भिर्लसति तरुणः प्रौढिमाप्तोऽपि वर्षैः ।
यश्चाकल्पात् भवतुरुचिरः सुस्थिरो मोदमानः
वर्षन् विद्यामृतमथ सदा मानवानां हिताय ॥

———

विश्वविद्यालय का सूत्रपात[1]

श्री शिवप्रसाद गुप्त

सन् १९१० के दिसम्बर मास में प्रयाग में बड़ी भीड़-भाड़ हो रही थी। एक ओर विलियम वेडरवर्न, की अध्यक्षता में कांग्रेस की बैठक हो रही थी और दूसरी ओर उसी के साथ सरकारी सहयोग में वृहत् स्वदेशी प्रदर्शनी हो रही थी। प्रान्तीय सरकार का लक्ष्य था कि सन् १९०४ की वम्वई की और सन् १९०६ की कलकत्ता की प्रदर्शनियों को नीचा दिखाया जाए पर वास्तव में, कुछ लक्ष्य दूसरा ही था। एक मास के लगभग प्रयाग में रहकर भी मैंने अपने उस समय के विचार के अनुसार इस प्रदर्शनी को नहीं देखा।

इसी वर्ष में पढ़ना छोड़कर, बी० ए० में होता हुआ भी परीक्षा में नहीं बैठा। घर पर मेरे सिपुर्द कोई काम नहीं था। समय, उत्साह और स्वास्थ्य की कमी न थी। पूज्यवर मालवीय जी महाराज से घनिष्ठता हो गई थी। मैंने उन्हें 'बाबू' पुकारना आरम्भ कर दिया था और उन्होंने भी पिता के सदृश प्रेम और शिक्षा आरम्भ कर दी थी। किन्तु इतना होते हुए भी वाबू के राजनैतिक विचार से हम वालक लोग सहमत न थे और उनसे इस संबंध में प्रायः वाद-विवाद हो जाया करता था। वे बड़े प्रेम से समझाने का यत्न करते थे पर मेरी उस समय गदहपचीसी थी। बात क्यों समझ में आती ? अस्तु।

यह वह समय था जव हिन्दू-कालेज के ट्रस्टियों में 'कृष्णमूर्ति' की बात लेकर आपस में वैमनस्य की नीव पड़ चुकी थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा सन् १९०४-५ में उठकर एक प्रकार शान्त हो चुकी थी और १९०९ में अलीगढ़ में मुस्लिम युनिवर्सिटी की चर्चा का आरम्भ होकर विचार का स्वरूप पा चुका था। 'गुरु गुड़ ही रहे और चेला चीनी हो गए' की कहावत इस संबंध में चरितार्थ हो चुकी थी। इसी समय हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा फिर उठ खड़ी हुई।

सिद्धान्तों को लेकर प्रस्ताव फिर उपस्थित हुआ। श्रीमती एनी विसेंट देवी चाहती थीं कि बादशाह का चार्टर लेकर एक सार्वभौम भारतीय विश्वविद्यालय काशी में खोला जाए जिसके अन्तर्गत देश के सब प्रान्तों के कालेज रह सकें और सब जगह यहाँ की परीक्षा के केन्द्र बन सकें। पर इस विचार का अन्त भी एक प्रकार से हो चुका था और उन्हें इस प्रयत्न में सफलता की आशा मिट चुकी थी। इसी अवसर पर मालवीय जी महाराज ने हि० वि० वि० का नया विचार नये रूप में फिर से उपस्थित किया। प्रयाग में स्यात् इसकी प्रथम बैठक हुई। स्वनामधन्य परलोकवासी श्री पण्डित सुन्दरलाल जी से इस नई संघटित संस्था के मंत्रित्व के लिए विनती की गई। उनके पैरों पर सच्चे ब्राह्मण मालवीय जी की पगड़ी तक डाली गई पर उन्होंने हर प्रकार की सहायता का वचन देते हुए भी, और हर तरह से सहायता देते हुए भी, जब तक सरकार का रुख स्पष्ट ज्ञात न हो जाए तब तक

---

1. From the malaviya Commemoration Volume 1932-Editor.

खुल कर स्पष्ट रूप में मंत्रित्व ग्रहण करने से इनकार ही कर दिया। कुछ उपाय न देख पूज्य बाबू ने अपने पैरों पर खड़ा होना ही विचारा और कलकत्ते के लिए प्रस्थान कर दिया। मैं भी उठल्लू के चूल्हे की तरह बेकार होने के कारण उनके साथ हो लिया। कलकत्ता पहुँच कर बाबू तो हरिसन रोड पर श्री पं० सुन्दरलाल सारस्वत के गृह पर उतरे और मैं अपनी कोठी श्री शीतल प्रसाद खड़ग प्रसाद, ३०, बरतल्ला गली में जा उतरा। पूज्य मालवीय जी ने प्रचार आरम्भ कर दिया। परलोकवासी मेरे अत्यन्त प्रियवर वयस में छोटे चाचा श्री मंगल प्रसाद, एम० ए० परीक्षा की तैयारी कर रहे थे वा स्यात परीक्षा दे चुके थे। उनके तथा श्री गोकुलचन्द के, जो उनसे और मुझसे भी थोड़े बड़े थे, प्रयत्न और उत्साह से मेरी कोठी ने इस कार्य्य में सहायता देना स्वीकार कर लिया। कलकत्ता नगर के बड़े बड़े महाजनों, साहूकारों और जनता ने भी दिल खोल कर इस कार्य में धन और मन से सहयोग दिया। स्वनामधन्य वर्तमान बीकानेर-नरेश ने भी इस संबंध में बड़ी सहायता का वचन दिया और गाड़ी चल निकली। इसी अवसर पर श्री हारकोर्ट बटलर, जो उस समय बड़े लाट के शिक्षा मंत्री थे, मालवीय जी महाराज से मिले और इनसे बहुत सी बातें कीं। आपने पहले ही कह दिया कि यदि प्रस्तावित संस्था में मातृभाषा द्वारा पढ़ाने की व्यवस्था रही तो उसमें सरकारी सहायता और सहानुभूति की आशा रखना व्यर्थ है। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि जिस समय तक आप अंग्रेजी भाषा में लिखते, बोलते, पढ़ते, पढ़ाते हैं तब तक तो हमें शान्ति रहती है, क्योंकि उस समय तक हम आपकी सब बातों और चालों को भली-भाँति समझ सकते हैं और उसे संभाल सकते हैं, पर जिस समय आप अपनी भाषा में कार्य करना आरम्भ कर देते हैं तब उसका समझना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इस कारण मातृभाषा द्वारा उक्त शिक्षा देने की अनुमति सरकार से किसी अवस्था में नहीं मिल सकती। न जाने क्या विचार करके कुछ मित्रों का विरोध रहते हुए भी बाबू ने श्री बटलर का इशारा समझ कर इस बात को स्वीकार कर लिया और मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने का विचार, एक प्रकार से छोड़ दिया या यह कहिए कि कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया।

इसी समय श्रीमती ऐनी बिसेंट देवी के तीन व्याख्यान भारतीय विश्वविद्यालय के संबंध में कलकत्ते में हुए इसके उपरान्त एक सार्वजनिक सभा में वि० वि० की घोषणा की गई। कलकत्ते में जो आर्थिक सहायता का वचन मिला था वह प्रकट किया गया और प्रायः ५ लक्ष का वचन मिला और धन भी कुछ मिला। हमारी गाड़ी आगे खिसकी। गौरीपुर के जमींदार श्री ब्रजेन्द्रराय किशोर चौधरी के मैनेजर श्री मदनमोहन घोष बाबू, तथा श्री राधामुकुद मुकर्जी और श्री विनयकुमार सरकार की—जो नेशनल काउंसिल आफ एडु-केशन के सदस्य थे और अन्तिम दो सज्जन, जो आगे चल कर यहाँ के अध्यापक भी हुए—सहायता से वि० वि० के विचार का प्रचार बंगाली सज्जनों में खूब हुआ और कुछ धन भी मिला। परलोकवासी श्री लंगट सिंह की सहायता और उत्साह से परलोकवासी श्री महा-राजाधिराज दरभंगा से भी इस संबंध में चर्चा की गई और सहायता की आशा हुई। बाबू के लंगोटिया यार और प्रान्त के वयोवृद्ध नेता और कार्यकर्ता, परलोकवासी श्री बाबू गंगा प्रसाद जी वर्मा भी बाबू के साथ हो लिए और कलकत्ता आ गए। श्री ईश्वरसरन जी ने

भी साथ दिया। परलोकवासी श्री पण्डित गोकरन नाथ मिश्र ने भी पूरे सहयोग का हाथ बढ़ाया और गाड़ी चल पड़ी। प्रिय मंगल प्रसाद और मैंने बाबू के सफर का प्रबन्ध, धन के खजानची का काम और इसी प्रकार के फुटकल कार्यों का भार अपने ऊपर ले लिया।

इतने समय के बाद ठीक क्रम में तो चूक हो सकती है पर जहाँ तक स्मरण है, विश्वविद्यालय का दौरा बंगाल में मालदह और फरीदपुर में, बिहार में पटना, मुजफ्फरपुर, भागलपुर और दरभंगा में, युक्तप्रान्त में जौनपुर, काशी, प्रयाग, कानपुर, इटावा, तथा पंजाब में अमृतसर और लाहौर में हुआ। इतने में ही प्रायः बीस लाख रुपयों की सहायता का वचन मिल चुका था। एक प्रकार से सारे भारत में विश्वविद्यालय के आगमान की दुन्दुभी बज चुकी थी। जनता के उत्साह का ठिकाना न था, मनुष्यों के हृदय में एक नया भाव, और एक नवीन आशा की बाढ़ सी उमड़ पड़ी थीं। कार्यकर्तागण फूले न समाते थे। भिन्न-भिन्न नगरों की सभाओं में दानियों की प्रतिस्पर्धा देखने योग्य होती थी।

मुजफ्फरपुर म एक भिक्षा माँगने वाली भंगिन ने अपनी दिन भर की कमाई, एक पैसा या एक अधेला, जो उसे मिला था इस यज्ञ-वेदी पर समर्पित कर दिया और दर्शकों को 'शुक्लसत्र' की याद दिलाकर चली गई। इसी प्रकार एक व्यक्ति ने एक फटी कमीज जो उसके बदन पर थी, उतार कर प्रदान कर दी थी। इन चीजों को नीलाम करने पर सैकड़ों रुपए मिले थे और ये वस्तुएँ भी वि० वि० को वापस कर दी गई थीं कि ये उसके संग्रहालय में विवरण के साथ सुरक्षित रखी जाएँ। यहीं मुजफ्फरपुर में एक बंगाली महोदय ने स्यात् ५ हजार रुपए दान किया था और पुनः उनके गृह पर जाने पर उनकी पत्नी ने अपना बहुमूल्य स्वर्णकंकण बाबू को भेंट दिया जिसे उनके पति ने उसका दूने से अधिक मूल्य देकर ले लिया और पत्नी को फिर वापस दे दिया और जिसे उनकी पत्नी ने संग्रहालय में . रखने के लिए पुनः बाबू को दे दिया। यहीं मुजफ्फरपुर की एक और घटना भी उल्लेखनीय है। रात्रि हो चली थी, सभा में धन एकत्र हो चुका था। एक ओर उसकी गिनती हो रही थी, दूसरी ओर छोटी-छोटी चीजें नीलाम हो रही थीं। रोशनी जरा कम थी कि एक उचक्का दो थैलियाँ हजार-हजार की उठाकर चल दिया। पीछे दौड़ हुई पर वह यह जा वह जा नाले और झाड़ियों में होकर गायब ही हो गया।

सभी जगह कुछ न कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं कि जिनका उल्लेख पाठकों के लिए शिक्षाप्रद और कौतूहलवर्द्धक हो सकता है पर उस ओर न जा मैं दूसरी ओर झुकता हूँ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि वि० वि० की दुन्दुभी बजाते हुए बाबू और उनके साथी कलकत्ता से लाहौर पहुँच गए थे। २०, २५ लाख का वचन मिल चुका था। हिन्दू विश्व-विद्यालय का आन्दोलन ब्रह्मपुत्र की बाढ़ के सदृश समुद्र की ओर वेग से बह रहा था। उसके आगे का पथ रोकना असम्भव हो चुका था। जब शिमला-शिखर से बाबू के लिए बुलावा आया, बाबू के साथ मैं भी शिमला पहुँचा। परलोकवासी राजा हरनाम सिंहजी की कोठी में हम लोग ठहराए गए। बाबू उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिंज से मिलने गए और वहाँ से बड़े प्रसन्न आए और मुझे बुलाकर कहा कि वाइसराय ने विश्वविद्यालय को अपनाने का वचन दे दिया है। मेरे काटो तो बदन में खून नहीं। मैं तो सन्न रह गया और मेरे मुख से हठात् निकल पड़ा कि—This is the death knell of the

Hindu University अर्थात् यह तो हिन्दू विश्वविद्यालय की मृत्युघोषणा है। अस्तु हम लोग ऊपर से उतर कर फिर लाहौर वापस आए। लाहौर की बृहत् सभा में स्वनामधन्य परलोकवासी लाला लाजपतराय ने कहा कि—"Charter or no charter, Hindu University must exist," जिसके उत्तर में बाबू ने कहा कि—"Charter and charter Hindu University must exist,"

इन वाक्यों से दोनों महान् व्यक्तियों की मनोवृत्ति का भली-भाँति पता चल सकता है। अस्तु अब क्या था। अब तो चारो ओर से लोगों की सहानुभूति आने लगी। राजा-महाराजा, उपाधिधारी और देश में अपने को सर्वस्व समझने वाले लोग इधर झुक पड़े और जहाँ गरीब व साधारण लोगों की जेबों में से गाढ़ी कमाई का पैसा एक-एक दो-दो की संख्या में भी आता था वहाँ अब बड़े-बड़े लोगों का बड़ा-बड़ा दान लाखों की संख्या में आने लगा। विश्वविद्यालय जनता और गरीबों का न रह कर सरकारी छत्र छाया के नीचे मुट्ठी भर राजा-महाराजाओं व बड़े आदमियों की संस्था रह गई। लाहौर से डेपुटेशन आगे बढ़ा, मेरठ में बड़े समारोह से सभा हुई, १२ घंटे तक का लम्बा जलूस निकला, परलोकवासी महाराजा दरभंगा ने आकर शिरकत की और सभापति बनना स्वीकार किया और ५ लाख का दान भी दिया। इसी के पहले पूज्य पंडित सुन्दरलाल जी ने भी श्री हारकोर्ट बटलर के कहने पर मंत्रित्व स्वीकार कर लिया था। अब बहाव का रुख दूसरी ओर चला था और आगे क्या हुआ वह सभी जानते हैं।

——o——

पूज्य मालवीय जी से मिला मन्त्र

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
आचार्य और अध्यक्ष, विश्वविद्यालयीय हिन्दी-विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, गया (बिहार)

सन् २० के समाप्त होते ही असहयोग आंदोलन आरंभ हुआ। हरिश्चन्द स्कूल की पढ़ाई छोड़ दी। कांग्रेस का झंडा छूकर आगे बढ़ गया और क्रान्तिकारियों से हाथ मिलाया। ७ वर्षों तक क्रान्ति की लहर में बहने के अनंतर सन् १९२८ में फिर अंग्रेजी पढ़ने दौड़ा। छह महीने घोर परिश्रम कर काशी विश्वविद्यालय की ऐडमिशन परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। लगे हाथों मित्रों के उकसाने पर सितम्बर में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा का शुल्क भेज दिया। जब तक उसके लिए पुस्तकें जुटाऊँ तब तक गुरुवर लाला भगवानदीन जी का आदेश हुआ कि तुम्हें विश्वविद्यालय की पढ़ाई करनी होगी और मेरे पीछे हिन्दी-विभाग में रहना होगा। २१ सितम्बर १९२८ में सेंन्ट्रल हिन्दू कालिज के इन्टर प्रथम वर्ष में दाखिल हो गया। प्रिंसिपल श्री ध्रुव ने मेरी फीस लाला जी के कहन से माफ कर दी। ८ अक्टूबर से कालिज में परीक्षा देनी थी। अर्धवार्षिक परीक्षा में शुल्क मुक्ति के कारण उत्तीर्ण होना अपेक्षित था। उत्तमा या साहित्यरत्न परीक्षा १ नवम्बर से होनेवाली थी। पढ़ाई की आँधी या ववंडर में जा गिरा। उस समय साहित्यरत्न की परीक्षा प्रयाग में ही होती थी। ८ अक्टूबर से १५ तक अर्ध-वार्षिक परीक्षा देकर साहित्य-सागर में डूब गया।

साहित्यरत्न की परीक्षा वड़ी-कड़ी होती थी तव। इससे कम ही परीक्षार्थी उसमें संमिलित होते थे और जो होते भी थे उनमें से कम ही उत्तीर्ण होते थे। ३२ परीक्षार्थियों न आवेदन-पत्र भरे थे। सोलह परीक्षा में वैंठे। तीन उत्तीर्ण हुए। एक मैं, दूसरे श्री अनूपलाल मण्डल और तीसरे मेरठ के एक सज्जन। मैं सर्वप्रथम, प्रथम श्रेणी का साहित्य-रत्न हुआ। इसके पूर्व किसी विषय में किसी ने प्रथम श्रेणी नहीं पाई थी। मेरी ख्याति की धूम मच गई। आचार्य नरेंद्रदेव जी ने मुझे काशी विद्यापीठ का अध्यापक नियुक्त कर कर दिया। पर मैंने पढ़ना छोड़कर पढ़ाना स्वीकार नहीं किया। मुझे १९३० में इन्टर पास कर लेने पर श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी छात्रवृत्ति मिलने लगी। पर उसी वर्ष गुरुवर्य लालाजी का शरीरपात हो गया। १९३२ में बी० ए० पास कर मैं संस्कृत विभाग में नियमित छात्र के रूप में अध्ययन करने लग गया। १९३४ में परीक्षा निकट आने पर मेरी बहन भोजन बनाते समय बुरी तरह जल गई उसको अस्पताल भेजना परिवार के व्यक्तियों ने स्वीकार नहीं किया। उसके घावों की मरहम पट्टी में मुझे बहन की प्रार्थना के कारण विवश होकर लगना पड़ा। इसलिए १९३४ में मैंने परीक्षा नहीं दी।

१९३५ में परीक्षा देने के अनन्तर मुझे मेरे मित्र श्री सीताराम जी चतुर्वेदी ने यह कह कर पूज्य मालवीय जी के चरणों में उपस्थित किया कि अच्छे धर्मशास्त्री हैं। बात इतनी ही थी कि बहुधंधी होने के कारण चतुर्वेदी जी को अवकाश कम रहता था और पूज्य मालवीय जी ने श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के अनन्तर सनातन धर्म महासभा के मुखपत्र 'सनातन धर्म' का उन्हें संपादक बना दिया था। वे चाहते थे कि कोई तन्मनस्क

होकर काम करने वाला मिल जाए तो मेरा बोझ हलका हो और पत्र समय से प्रकाशित होने लगे। 'सनातन धर्म' के संपादक के लिए धर्मशास्त्री होना उचित ही था।

मैं चतुर्वेदी जी के स्वभाव से परिचित था। पर सहसा अपने को धर्मशास्त्री सुनकर चौंक गया। मध्यमा परीक्षा (विशारद) में धर्मशास्त्र मेरा एक वैकल्पिक विषय था। संस्कृत एम० ए० में भी धर्मग्रंथ मैंने पढ़े थे, पर मैं धर्मशास्त्री नहीं था। साहित्यशास्त्री अवश्य था। मालवीय जी ने धर्मशास्त्र की चर्चा छेड़ी। अपनी तुच्छ ज्ञानराशि के भरोसे मैं भी कुछ कहता और हाँ में हाँ मिलाता जा रहा था कि उन्होंने श्रीमद्भागवत की चर्चा चलाई और लगे उसके उद्धरण देने तथा विवेचन करने। मैं मन्त्रमुग्ध की भाँति उनकी अमृतवाणी का श्रवण करता हुआ रससागर में निमग्नोन्मग्न हो रहा था। सहसा उनकी पृच्छा हुई कि भागवत का कोई श्लोक है आपके ध्यान में। मैं अकचका कर सोते से जाग पड़ा। सीताराम के बनाए धर्मशास्त्री की कठिन परीक्षा थी। पर एक श्लोक ने जो यों ही ध्यान में आ गया था कदाचित् मेरी परिस्थिति-मनः स्थिति का भोंपा बजाते हुए पोत बनकर मुझे पारंगत कर दिया—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यति अन्तरितो जनः।

चलिए मैं धर्मशास्त्री की परिक्षा में उत्तीर्ण हो गया और सनातन धर्म के संपादकीय विभाग में रख दिया गया। मैंने पूज्य मालवीय जी से प्रार्थना की थी कि कृपया मेरा नाम पत्र के संपादक के रूप में न छापा जाए। धर्मशात्रीजी संपादन में लगे। पत्र साप्ताहिक था। कभी कभी मालवीय जी भी उसमें लिखते थे। जब वे उसमें लिखने वाले होते थे तो बड़ी कठिनाई पड़ जाती थी। एक तो समय से उनका लेख नहीं मिलता था और लेख मिल जाने पर उसका प्रूफ उनके पास जाता था। उसके लौटने पर भी मशीन पर चढ़े फार्म में भी संशोधन करने की कभी कभी अपेक्षा हो जाती थी। मैं इससे परिचित नहीं था। मैंने संपादक-कला की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। संपादन-कला पर कुछ पुस्तकें भी उलटी-पलटी थीं। कहीं पढ़ा था कि किसी विचार-पत्र (व्यूज़ पेपर) के लिए भी आवश्यक है कि वह समय से प्रकाशित हो। मैंने यही नीति अपनाई। उधर संवाद आया कि अगले अंक में मालवीय जी का उग्रलेख जाएगा। नई व्यवस्था हई थी, धर्मशास्त्री जी नए संपादक हुए थे। पत्र में नवीनता आनी ही चाहिए। पर पूज्य चरण के अग्रलेख के कारण वह और भी बिलंवित हो गया। मैंने अवसर मिलते ही इस संबन्ध में स्पष्टीकरण का निश्चय किया। धर्मशास्त्री बनने के अनन्तर मैं कभी मालवीय जी के निकट नहीं गया था। महान् पुरुषों के यहाँ नित्य उपस्थित होने में कई लाभ होते हैं। पर मैं श्रमजीवी के जीवन में विश्वास अधिक करता रहा हूँ। समय का मूल्य अधिक मानकर मैं जीवन भर इससे बचता आया। रीतिकाल के दरबारी कवियों के दरबार में पहुँच कर भी मैं दरबारी नहीं हो सका। इससे जो हानि-लाभ हुआ या लाभ-हानि हुई मैंने उसका कभी कोई विचार नहीं किया।

पूर्वोक्त स्पष्टीकरण के लिए मैं मालवीय जी के निकट दूसरी बार गया था। एक बार धर्मशास्त्री बनने और दूसरी बार अब संपादक के रूप में स्पष्टीकरण के निमित्त। मुझे

देखते ही एक क्षण निहारकर उन्होंने 'विश्वनाथ' कह कर मुझे पुकारा। मैं दंग रह गया कि सहस्रों व्यक्तियों से नित्य मिलने वाला व्यक्ति मुझे एक ही बार देखने पर इस प्रकार पहचान गया और उन्हें मेरा नाम भी स्मरण है। यह पूज्य मालवीयजी की महत्ता ही थी कि मुझ जैसे साधारण व्यक्ति को भी वे स्मृतिपथ में रखे हुए थे। मैंने "जी, बाबूजी" कहकर उत्तर दिया और साहसपूर्वक निवेदन किया कि समाचार-पत्र हो या विचार-पत्र उसका समय से प्रकाशित होना बहुत बड़ा गुण है। निवेदन है कि यदि 'सनातन धर्म' में आप का कोई अग्रलेख जाना हो तो वह मुझे एक सप्ताह पूर्व मिल जाया करे या देर से मिलने पर अगले अंक में उसे स्थान मिले और चालू अंक समय से प्रकाशित हो जाए। मेरी प्रार्थना "बाबूजी" न स्वीकार कर ली और फिर कभी मुझे किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। "सनातन धर्म" समय से प्रकाशित होने लगा और उसकी ग्राहक-संख्या बहुत बढ़ गई।

एक दिन सन् १९३६ के फरवरी महीने में पूज्य मालवीयजी ने मुझसे पूछा कि हिंदी में एम्० ए० हो या संस्कृत में। मैंने निवेदन किया कि संस्कृत में। आदेश हुआ कि इसी वर्ष तुम्हें हिंदी में एम्० ए० की परीक्षा देनी है। मैंने कहा कि १५ मार्च से परीक्षा होनेवाली है और आज १५ फरवरी है। मेरे पास फीस के रुपए भी नहीं हैं। उन्होंने तुरंत रजिस्ट्रार को बुलवाया। मेरी ५०) रुपए की फीस उन्हें दी और फार्म भरवाया और १५०) मुझे दिए। डेढ़ महीने की छुट्टी दी और परीक्षा की तैयारी करने को कहा। मैंने निवेदन किया कि "बाबू जी, आपके आदेश का पालन तो मैं कर रहा हूँ पर यह नहीं समझ में आया कि इतनी हड़बड़ी में मुझसे परीक्षा क्यों दिलाई जा रही है।" उन्होंने कहा कि मुझे विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के लिए एक अध्यापक चाहिए। श्री श्यामसुन्दरदास अगले वर्ष रिटायर्ड होंगे। मैं चाहता हूँ कि तुम वहाँ काम करो।' "सनातनधर्म" का कार्य श्रीसीताराम चतुर्वेदी को डेढ़ महीने के लिए सौंप दिया गया। मैंने अध्ययन आरंभ किया। एक महीने में सारे ग्रंथों को उलट-पलट गया। २८ मार्च को परीक्षा समाप्त हुई। उस समय हिंदी एम्० ए० में प्रबंध लिखकर देना अनिवार्य था। ३१ मार्च तक प्रबंध लिखकर दे देना था। २८ से ३० तक २ दिनों में मैंने "बिहारी और उनकी कविता" पर प्रबंध प्रस्तुत कर दिया रात-दिन लगकर। वही प्रबंध "बिहारी की वाग्विभूति" के नाम से आगे पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। पुज्य मालवीयजी के आशीर्वाद से मैं विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी में प्रथम आया।

अब उन्होंने शोध में नाम लिखाने का आदेश दिया। उस समय विश्वविद्यालय में केवल 'डी० लिट्०' की उपाधि थी। मैंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निर्देशन में 'भावों का अलंकार शास्त्र की सीमा में मनोवैज्ञानिक अध्ययन' विषय पर शोध करना आरंभ किया। उस समय हिंदी-विभाग में एक ही शोध छात्रवृत्ति थी—श्रीबाबूनंदन अत्तारवाला की। केवल ३५) महीने की वृत्ति मिलती थी। १५) महीने शोधछात्र को शुल्क देना पड़ता था। बाबू श्यामसुन्दरदास छात्रवृत्ति किसी दूसरे को देना चाहते थे। उन्होंने मेरे फार्म पर केवल हस्ताक्षर भर कर दिए। उस वृत्ति के लिए संस्तुति नहीं की। मैंने पूज्य मालवीयजी से प्रार्थना की कि केवल २०) ही तो बचेंगे ऐसी छात्रवृत्ति का लेना न लेना समान जान पड़ता है। उन्होंने तुरंत विशेष आदेश से मुझे शुल्क से मुक्त कर दिया।

उधर बाबू श्यामसुन्दरदास इससे रुष्ट हो गए कि मेरी संस्तुति का विचार न कर ऐसे को छात्रवृत्ति दे दी गई जिसकी संस्तुति मैंने नहीं की थी। उन्होंने आदेश दिया कि तुमने जो अनुसंधान किया हो उसकी प्रत्येक तीसरे महीने मुझे रिपोर्ट दो। आचार्य शुक्ल से मैंने कहा कि यह विषय ऐसा है जिसमें सामग्री का संकलन करने में ही एक वर्ष लग जाएगा भला तीन-तीन महीने में क्या रिपोर्ट दी जाएगी। अंत में एक वर्ष के अनन्तर उसकी रिपोर्ट दी गई और कहा गया कि सामग्री का वर्ष भर में इस रूप में आकलन किया गया है। बाबू श्यामसुन्दरदास इस रिपोर्ट पर अप्रसन्न हो गए और उन्होंने कहा कि तुमने कुछ भी कार्य नहीं किया। तत्कालीन रजिस्ट्रार श्री इन्द्रदेव तिवाड़ी के यहाँ रिपोर्ट की। पर उन्होंने बाबू साहब को बहुत समझा-बुझाकर वह रिपोर्ट दाखिलदफ्तर कर दी।

सन् १९३७ में बाबू श्यामसुन्दरदास कृतकार्य होकर विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष पद से पृथक् हो गए। उनके स्थान पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की नियुक्ति की गई। विभाग में एक स्थान रिक्त हुआ। जिसके लिए अनेक अभ्यर्थी थे। मेरा आवेदन-पत्र पूज्य मालवीय जी ने स्वयम् देखा-लिखाया था। पर आवेदन पत्रों की 'प्रेसी' में मेरे नाम के आगे इतना ही लिखा गया था--हिंदी में प्रथम श्रेणी, अध्यापन के अनुभव का अभाव। राजनीति-विभाग के अध्यक्ष श्रीपुणतांबेकर जी ने मुझे 'प्रेसी' दिखाई तो मैं दंग रह गया। मैं सीधे मालवीय जी के निकट गया और निवेदन किया कि "बाबूजी" मेरी नियुक्ति हो या न हो, पर आपने स्वयम् मेरा आवेदन-पत्र देखा-लिखाया है और मेरे विषय में सब कुछ जानते हैं। फिर "प्रेसी" में ऐसा न्यूनतम तथ्य और साथ ही भ्रामक भी क्यों दिया गया। पूज्य मालवीय जी का रोष मैंने कभी देखा नहीं था। उन्होंने तुरंत प्रधान लिपिक को बुलवाया और बहुत डाँटा तथा मेरी 'प्रेसी' स्वयम् लिखवा दी।

नियुक्ति-समिति में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आहूत किए गए। उनसे न जाने कितनी जिरहें हुई, पर वे हिमालय की भाँति अटल रहे और अंततोगत्वा मेरी प्राध्यापक के पद पर नियुक्ति हो गई। पूज्य मालवीय जी ने मुझे बुलाकर अध्यापन के संबंध में अनेक उपदेश दिए, ऊँचा काम करने का आदेश दिया और अंत में संस्कृत में एक वाक्यखंड का उपदेश किया। पूज्य मालवीय जी का वह आदेश मेरे हृदय-पटल पर तभी से ऐसा अंकित है कि जब कभी कोई कठिनाई आती है तो उसी को मन ही मन पढ़ लेता हूँ। विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त होने के अनंतर यदि मुझसे कोई ऊँचा काम बन पड़ा हो तो उसका सारा श्रेय मालवीय जी के उस वाक्यखंड को है। मैं चाहता हूँ कि जीवन में वह अमिट बना रहे और मुझे नीचे गिरने से बचाता रहे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पूज्यचरण ने अपने जीवन का आदर्श मंत्र मेरे कानों में फूंक दिया है। वह आज भी गूंज रहा है उनकी मंद्र ध्वनि में--

ब्राह्मणस्य शरीरोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
[ब्राह्मण का यह शरीर छोटे काम के लिए नहीं है।]

———

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना में आयुर्वेद की भूमिका

श्री प्रियव्रत शर्मा
निदेशक, स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान

१९ वीं शती के अन्तिम चरण में देश में जो जागृति की लहर फैली उसने भारतीय संस्कृति और समाज के प्रत्येक कोने को छू लिया। सदियों से दासता में दबी हुई भारतीय राजनीति ने एक ओर करवट ली तो दूसरी ओर भारतीय ज्ञान-विज्ञान ने भी अपना घर टटोला। समुद्रमंथन से जिस प्रकार अनेक रत्न प्रादुर्भूत हुए उसी प्रकार ऐसे उथल-पुथल के युग में अनेक नर--रत्न भारतीय धरातल पर आविर्भूत हुए। इनमें महामना मदन मोहन मालवीय प्रमुख थे। इनकी विशेषता यह थी कि अन्य महापुरुष जहाँ केवल राजनीतिक वातावरण की ओर ही देखते थे वहाँ महामना मालवीय की तीक्ष्ण दृष्टि राजनीति के अतिरिक्त भारतीयता के अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर भी थी। विशेषतः भारतीय संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान जो शताब्दियों से अंधकार में पड़ा था उसे प्रकाश में लाकर अपने पैरों पर खड़ा करना, जिससे भारत वासियों में गौरव का संचार हो सके यह महामना का सर्वोच्च आदर्श था और मौलिक सूझ भी। क्योंकि उस समय प्रायः भारतीय विद्वान भी विदेशी विद्वानों के वाक्यों को ही प्रमाणभूत मानते थे, भारतीय शास्त्रों पर उनका ध्यान ही नहीं गया था। यही स्थिति जीवन की थी। अधिकांश शिक्षित समाज अँग्रेजी रहन-सहन अपना चुका था और उसी में गौरव तथा गर्व का अनुभव करता था। महामना मालवीय ने अपनी सात्विक वेश-भूषा तथा विशुद्ध सरल आचार-विचार के द्वारा समस्त देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और अनेकों को भारतीय जीवन पद्धति का अनुगामी बनाया। चिकित्सा क्षेत्र का भी यही हाल था। विदेशी चिकित्सा अपने चाक-चिक्य से शोषण का जाल देश में फैला चुकी थी किन्तु शैशव काल में ही एक बार मालवीय जी जब अपनी बीमारी में एलोपैथी की असफलता और आयुर्वेद का अद्भुत चमत्कार देख चुके थे तभी से एलोपैथी चिकित्सा का खोखलापन प्रगट हो गया था और आयुर्वेद के प्रति उनकी निष्ठा बढ़ गई थी जो कालक्रम से दृढ़तर होती गई।

इतना होने पर भी उनका विचार रूढ़िवादी नहीं था। वह उपादेय वस्तुओं को अपनाने के पक्ष में सदा रहते थे अतः इस सम्बन्ध में उनकी विचारधारा समन्वयवादी थी। वह प्राचीन और नवीन के समन्वय के पक्षपाती थे। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान को प्रकाश में लाकर भास्वर बनाना तथा नवीन ज्ञान के द्वारा उसे उपबृंहित कर सामयिक युगानुकूल बनाना, यह उनका आदर्श था। वह प्राचीन को नवीन परिधान में देखना चाहते थे जिसमें वह सर्वग्राह्य हो सके, समाज में उसकी उपादेयता सिद्ध हो सके। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना इसी कारण उनकी मौलिक सूझ थी। इस विश्वविद्यालय में जहाँ उन्होंने इंजिनियरिंग, टेकनोलॉजी, इतिहास आदि के पठन-पाठन की व्यवस्था की वहाँ उन्होंने वेद, आयुर्वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि प्राचीन शास्त्रों

की भी शिक्षा का क्रम स्थापित किया। अँग्रेजी के साथ-साथ संस्कृत और हिन्दी भी पनपने लगी। मालवीय जी के मन में नालन्दा विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालय का स्वप्न था, जिसमें कला और साहित्य के साथ तर्कशास्त्र, आयुर्वेद, दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष आदि विषयों का शिक्षण दिया जाता था। १९०४ ई० में पहले पहल काशी–नरेश सर प्रभुनारायण सिंह के सभापतित्व में मिन्ट हाउस काशी में एक सभा हुई जिसमें महामना मालवीय ने हिन्दू विश्वविद्यालय का विस्तृत चित्र उपस्थित किया। दिसम्बर १९०५ ई० में श्रीमान् गोखले की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन बनारस में हुआ। उसी अवसर पर ३१ दिसम्बर १९०५ को टाउनहाल में एक बड़ी सभा हुई जिसमें प्रस्तावित हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना रखी गई तथा १ जनवरी, १९०६ को वहीं कांग्रेस पंडाल में हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने की घोषणा हो गई। १ अक्टूबर, १९१५ को हिन्दू विश्वविद्यालय बिल पेश हुआ और स्वीकृत हो गया। इसके अनुसार मालवीय जी का चिरसंचित मनोरथ सिद्ध हुआ। ४ फरवरी १९१६ को वसन्त पंचमी के मध्याह्न में लार्ड हार्डिञ्ज के करकमलों से एक विशेष समारोह में विश्वविद्यालय का शिलान्यास हुआ। १९१७ से विश्वविद्यालय का कार्य विधिवत् प्रारम्भ हुआ। १९१७ में विश्वविद्यालय की स्थापना तो हो गई किन्तु अभी मालवीय जी का एक स्वप्न साकार होना बाकी था वह था आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना।

१९०४ में विश्वविद्यालय की जो प्रस्तावित योजना थी उसमें आयुर्वेद-विभाग का प्रमुख स्थान था और उसका निम्नांकित रूप था :—

"आयुर्वेदिक विद्यालय—जिसमें एक प्रयोगशाला हो तथा वनस्पति-शास्त्र के अध्ययन के लिए एक उद्यान भी हो। एक सर्वोत्कृष्ट चिकित्सालय तथा पशु-चिकित्सालय की स्थापना की जाय।"

प्रस्तावित हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना के प्रथम भाग में उसकी आवश्यकताओं और उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए महामना मालवीय ने लिखा है :—

"भारत का प्राचीन धर्म मनुष्य की इहलौकिक और पारलौकिक जीवन---संबंधी दोनों संबंधों को मानता था। हिन्दू सभ्यता का समस्त ढाँचा हिन्दू धर्म के आधार पर खड़ा है। वर्तमान संस्कृत साहित्य में सुरक्षित उस सभ्यता के अवशेष चिह्नों में एक ऐसी योजना दी गई है जिससे प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक, नैतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति कर सके और इस प्रकार सुसंगठित समृद्ध जाति बन सके। प्राचीन धर्म का सबसे पहला उद्देश्य मनुष्य जीवन को सुरक्षित तथा उसे स्वस्थ रखना था। आयुर्वेद धर्मशास्त्र का प्रमुख अंग समझा जाता था और उस समय यह उपवेद के नाम से प्रसिद्ध था।

भारत का आयुर्वेद योरोपीय औषधि—विज्ञान का भूला हुआ पिता समझा जाता है – जिसका पुत्र को कुछ भी ज्ञान नहीं है और यद्यपि इस शास्त्र में पिछली सात-आठ शताब्दियों से कोई विशेष उन्नति नहीं हुई तथापि चरक, सुश्रुत तथा अन्य आयुर्वेदिक विषयों का ज्ञान रखनेवाले आयुर्वेदिक चिकित्सक कलकत्ते जैसे प्रसिद्ध स्थान में भी धन

और मान प्राप्त कर रहे हैं जहाँ योरोपीय सभ्यता का इतना अधिक प्रचार है और जहाँ योरोपीय ढंग से चिकित्सा की जाती है जिसकी उन्नति में समस्त पाश्चात्य देशों ने योग दिया और जिनको सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अपनी विद्वतापूर्ण गवेषणाओं द्वारा उपकृत किया है। व्यक्तिगत तथा घरेलू स्वास्थ्य के नियम, खाने-पीने के नियम तथा प्रतिबंध इस कथन को भली प्रकार पुष्ट करते हैं। वे हिन्दू समाज के सामाजिक नियमों के अन्तर्गत आ जाते हैं तथा उनका पालन वर्तमान हिन्दू धार्मिक कृत्य समझ कर अब तक करते आ रहे हैं।"

"योरोप के संस्कृत विद्वान अब इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्म, दर्शन-शास्त्र, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, कविता, नाटक, वास्तुकला, संगीतशास्त्र, कलाकौशल तथा उद्योग-धंधा तथा विद्या के समस्त अंगों को भारतीयों ने ही जन्म दिया है और अपने परिश्रम से उन्होंने जो रूप उन्हें दिया है उसका दूसरा उदाहरण संभवतः और कहीं भी न मिलेगा।"

"योरोपीय विद्वानों तथा अन्वेषकों का कथन है कि भारतवर्ष ने ही अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, ज्योतिष-शास्त्र तथा आयुर्वेद को जन्म दिया है और वे हमारे पूर्वजों को इसके लिए धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने ही संसार को धातुओं का प्रयोग बतलाकर संसार की सभ्यता की अभिवृद्धि में सहयोग दिया था। दुःख है कि समय के परिवर्तन से भारत ने कलाकौशल तथा विज्ञान में पिछली नौ या दश शताब्दियों से कुछ भी नहीं किया। इतना ही नहीं बल्कि उसकी सब उन्नतियों का वर्तमान समय में भयंकर ह्रास होता जा रहा है। भास्कराचार्य के समय से लेकर अबतक गणित में कोई उन्नति नहीं हुई तथा आयुर्वेद ने भी वाग्भट्ट के समय से लेकर अबतक बहुत ही थोड़ी उन्नति की है। भारतीय विद्वत्ता का पौधा जिसको विद्वानों ने अपने सराहनीय परिश्रम से सींचा था, आज दिनोदिन सूखता जा रहा है।"

"भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में तब तक सर्वथा असमर्थ है जबतक वर्तमान वैज्ञानिक अन्वेषणों का अध्ययन नियमित तथा अनिवार्य नहीं बनाता।"

योजना म आयुर्वेदिक कालेज का यह रूप रखा गया था:—

"उपवेदों में आयुर्वेद को विशेष महत्व दिया जाएगा। अन्य जातियों द्वारा चिकित्सा-शास्त्र तथा शरीर विज्ञान-शास्त्र में जो आश्चर्यजनक उन्नति हुई है वे सब भी आयुर्वेद के अध्ययन में सम्मिलित किए जाएँगे। इस विभाग का मुख्य उद्देश्य देश को ऐसे वैद्यों से भर देना है जो औषधि-शास्त्र तथा चीड़फाड़ दोनों विषयों में पारंगत हों। औषधि में काम आने वाली जड़ी बूटियों के लिए एक वनस्पति—वाटिका भी बनाई जाएगी।

रसों, तेलों तथा आसवों के बनाने के लिए एक प्रयोगशाला भी होगी जहाँ आयुर्वेदिक अन्वेषण के प्रयोग किए जाएँगे। योरोपीय देशों से प्रसिद्ध वैद्य तथा डाक्टर बुलाए जाएँगे जो आयुर्वेद के विद्यार्थियों को चिकित्साशास्त्र, शरीर विज्ञान-शास्त्र तथा स्वास्थ्य विज्ञान की पूर्ण रूप से शिक्षा देगें तथा संस्कृत और देशी भाषाओं में इन महत्वपूर्ण ग्रंथों के तैयार करने में वैद्य लोंगों को सहायता देंगे"।

"संस्कृत के प्रेमियों को संस्कृत शिक्षा दी जाएगी। धर्म-शिक्षा तथा आयुर्वेद में सबसे वड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवालों के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य होगा"।

"विश्वविद्यालय का प्रथम कर्त्तव्य संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में भिन्न-भिन्न कलाकौशल-संबंधी तथा वैज्ञानिक विषयों की पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत करना होगा। इस कार्य का सम्पादन उन विद्वानों के हाथ में दिया जाएगा जो संस्कृत भाषा तथा उसके सौन्दर्य से परिचित होते हुए आयुर्वेद, ज्योतिष, अंतरिक्ष विद्या, दर्शन-शास्त्र आदि भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञान में पूर्णतया पारंगत होंगे। इन सब पुस्तकों द्वारा विदेशी भाषा के ज्ञान से अपरिचित विद्यार्थियों को भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान कराया जाएगा। इस प्रकार से इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में उन्हें कोई कठिनता न होगी। संक्षेप में, हमारा उद्देश्य वर्तमान सभ्यता की अनुकरणीय तथा लाभदायक बातों के साथ भारतीय सभ्यता का उचित सामंजस्य स्थापित कर देना है"।

यह सोचा गया है कि दूसरा विद्यालय आयुर्वेद का हो। सरकार द्वारा स्थापित अनेक आयुर्वेदिक विद्यालय तथा पाठशालाएँ जनता के लिए हितकर कार्य कर रही हैं। किन्तु देश की आवश्यकता के अनुकूल अभी सुयोग्य वैद्यों की बहुत कमी है। जो स्नातक और शल्य चिकित्सक इन विद्यालयों से प्रतिवर्ष निकलते हैं उन्हें प्रायः नगरों ही में काम मिल जाता है। इनमें प्राचीन ढंग के यूनानी तथा आयुर्वेदिक चिकित्सावाले वैद्यों तथा हकीमों की गणना है। गावों में, जहाँ भारत की मुख्य जनता बसती है, अबतक सुयोग्य वैद्यों का दर्शन तक नहीं होता।

जिला चिकित्सालयों में भी चिकित्सा-सहायकों की नियुक्ति होती है। परन्तु इन सहायकों की संख्या बहुत ही थोड़ी है इसका परिणाम यह होता है कि असंख्य देहाती जनता आयुर्वेदिक सहायता के अभाव में अपने रोगों का निवारण नहीं कर पाती और अधिकतर लोगों को ऐसे व्यक्तियों से सहायता लेनी पड़ती है जो 'नीम हकीम खतरे जान' की कहावत को चरितार्थ करनेवाले होते हैं। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेदिक कालेजों की अत्यधिक आवश्यकता है। राजकीय व्यवस्थापिका सभा की पिछली बैठक में भारत के अस्पताल विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल श्रीयुत सर्जन जनरल ल्यूकिस ने बम्बई के डाक्टर ट्रेमालजी नारीमन की सलाह का उल्लेख करते हुए कहा था कि भारतीयों को आयुर्वेदिक विद्यालयों की अधिक संख्या में स्थापना की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। सर्जन ल्यूकिस ने कहा है—

कि हम लोगों ने कल जो मनोहर व्याख्यान ध्यानपूर्वक सुना है, उसमें गोखले महाशय ने देश की प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में बतलाया है कि यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसमें सरकार को जनता के साथ हार्दिक सहयोग द्वारा प्रयत्नशील होना चाहिए। क्या मैं इन्हीं शब्दों को दूसरे रूप में इस प्रकार कह सकता हूँ कि यह एक ऐसा कार्य है जिसमें जनता को हृदय से सरकार की सहायता करनी चाहिए? मुझे यह आशा है कि धनी तथा उदार मनुष्य इसको ध्यान में रखेंगे। मैं उनसे निश्चय कह सकता हूँ कि यदि देश में ऐसे गैरसरकारी आयुर्वेदिक विद्यालयों की स्थापना हो जाय, तो केवल उस विभाग की ही उन्नति नहीं होगी बल्कि इससे देश का बड़ा भारी हित भी होगा।

सरकारी विद्यालयों में बहुत अल्प संख्या में विद्यार्थी भरती किए जाते हैं। कलकत्ते में मैंने स्वयं अनुभव किया कि दो सौ से ऊपर विद्यार्थी प्रतिवर्ष लौटा दिए जाते हैं। अतएव देश में इस प्रकार के गैर सरकारी विद्यालयों के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र है। उन्हें विश्वविद्यालयों से भी सम्बद्ध किया जा सकता है या सरकारी विद्यालयों की भांति उनका भी पृथक् प्रवन्ध किया जा सकता है जिसके अधिकारी केवल भारतीय ही रहें। मैं तो उस दिन का स्वागत करना चाहता हूँ जब भारत के कोने-कोने में इस प्रकार के विद्यालयों की स्थापना हो जाएगी, जो उत्तमता तथा श्रेष्ठ परीक्षाफलों में सरकारी विद्यालयों के टक्कर लेकर आगे बढ़ जाएँगे, जैसा कि डाक्टर नारीमन ने कहा है।

इसमें वर्षों का समय लगेगा, परन्तु अपने भारत से जाने के पहले कम से कम बम्बई तथा कलकत्ते में मैं इसे अपनी आँखों से कार्य रूप में परिणत देखकर जाना चाहता हूँ। यदि मेरे कथन से जनता के नेताओं को कुछ भी प्रोत्साहन मिला और वे इसमें हार्दिक सहायता के लिए सम्बद्ध हो गये तो मैं समझूंगा कि मेरा इतना समय व्यर्थ नहीं गया।"

बनारस के प्रस्तावित आयुर्वेद विद्यालय में मुख्य बात यह होगी कि योरोपियन शल्यचिकित्सा प्रणाली के साथ-साथ हिन्दू चिकित्सा पद्धति की शिक्षा भी दी जाएगी। हिन्दू-चिकित्सा-प्रणाली की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। योरोपियन-चिकित्सा-प्रणाली के पिता माने जाने वाले हिपोक्रेटस ने जिन्होंने योरोप में इस शास्त्र का अध्ययन इसे विज्ञान मान कर किया था, इस विषय की शिक्षा हिन्दुओं से ही ली थी। बंगाल के डाक्टर वादूज कहते हैं कि आयुर्वेद के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए हमलोग हिन्दुओं के सदैव ऋणी रहेंगें। रमेशदत्त 'अपने प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास' नामक ग्रंथ में कहते हैं कि भारतीयों को यह पढ़कर हर्ष होगा कि जहाँ आजकल प्रत्येक जिले में स्वच्छता तथा दवाई के कार्यों के लिए विदेशी वैज्ञानिक बुद्धि तथा ज्ञान आवश्यक समझा जाता है, वहाँ आज से बाइस सौ वर्ष पहले महान् सिकन्दर ने अपने खेमे में हिन्दू वैद्यों को ऐसे रोगों के निदान के लिए रखा था जिन्हें यूनानी वैद्य अच्छा नहीं कर सकते थे। ग्यारह सौ वर्ष हुए बगदाद के हारुनुल रशीद बादशाह ने मयंक तथा सलेह नामक दो हिन्दू वैद्यों को अपना दरबारी वैद्य बनाया था। केवल हिन्दू एवं बौद्ध काल में ही नहीं बल्कि मुसलमानकाल में भी हिन्दू-चिकित्सा-प्रणाली राष्ट्रीय रोग निदान का साधन थी। अब भी कम से कम हिन्दुओं में उसी प्रणाली को अधिक महत्व दिया जाता है। यह भारतीय होने के कारण भारतीयों के लिए अधिक सुविधाजनक है। अन्य प्रणालियों से यह सस्ती है और अधिक गुणकारी भी है। इसका प्रमाण इसी से मिल जाएगा कि इस प्रणालीवाले जो कविराज अथवा वैद्य आयुर्वेद के अच्छे मर्मज्ञ हैं वे कलकत्ते जैसे शहर में, जहाँ योरोपियन प्रणाली के डाक्टरों की बहुतायत है, अधिक धन कमाते हैं और अधिक रोगियों को अच्छा करते हैं।

ऐसा होते हुए भी देश भर में एक भी ऐसी संस्था नहीं है जहाँ इस प्रकार के वैद्यों और कविराजों को उपयुक्त शिक्षा दी जा सके। हिन्दू जाति का हित इस बात में है कि कम से कम देश में एक ऐसे विद्यालय की स्थापना हो जिसमें नियमित तथा स्थायी रूप से इस देश के आयुर्वेदिक ज्ञान की शिक्षा दी जाय। यह विचार है कि प्रस्तावित आयुर्वेद विद्यालय जो विश्वविद्यालय में खुलेगा वह इसी प्रकार का एक केन्द्र हो जाय। हिन्दू

आयुर्वेद प्रणाली का यहाँ पुनरुद्धार किया जाएगा और अँग्रेजी ढंग की आश्चर्यजनक सफलताओं तथा प्राणिशास्त्र, शल्यचिकित्सा आदि विभागों के समावेश से उसके ज्ञान भंडार को और अधिक विस्तृत कर दिया जाएगा। इस विद्यालय का लक्ष्य देश में योग्य वैद्य उत्पन्न करना होगा जो शल्य चिकित्सा के मर्मज्ञ होंगे। यह आशा की जाती है कि भारत की दुःखी जनता की इससे वहुत वड़ी सेवा होगी।"

इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि महामना मालवीय के मन में आयुर्वेद को उठान के लिए कितनी तीव्र अभिलाषा थी और उनका आदर्श कितना उदार था। आयुर्वेद के स्वरूप के संबंध में उनके विचार स्पष्ट थे। वह आयुर्वेद में नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का समावेश कर उसके भंडार को विस्तृत करना चाहते थे और ऐसे कार्यकुशल योग्य वैद्य तैयार करना चाहते थे जो शल्य चिकित्सा के भी मर्मज्ञ हों।

आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना में कुछ समय लगा तो इस अवधि में मालवीय जी ने देश के विद्वान वैद्यों से संपर्क स्थापित किया और इसके प्रस्तावित रूप के संबंध में विचार विमर्श किया। आयुर्वेद के क्षेत्र में भी नई चेतना उन दिनों आ चुकी थी। १९०० में निखिलभारतवर्षीयवैद्य सम्मेलन स्थापित हुआ और उसका प्रथम अधिवेशन नासिक में हुआ। तव से वैद्य महानुभाव तथा आयुर्वेद-हितैषी महापुरुष वैद्य-सम्मेलन के मंच पर एकत्र होकर आयुर्वेद की गतिविधि एवं उसके भविष्य के संबंध में विचार विमर्श करने लगे। महासम्मेलन ने भी आयुर्वेद के शिक्षण के संबंध में नवीन विचारधारा स्वीकृत की जिसके अनुसार आयुर्वेद महामंडल का विषयानुरूप नवीन पाठ्यक्रम अनुमोदित हुआ तथा देश भर में प्रवर्तित हुआ। उस काल में आयुर्वेद चक्र को प्रभावित करने वाले वैद्यों में महामहोपाध्याय कविराज गणनाथसेन सरस्वती, कविराज योगेन्द्रनाथ सेन, पं० लक्ष्मीराम स्वामी, कविराज यामिनीभूषण राय, वैद्यराज पं० डी० गोपालाचालुं, वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य प्रमुख थे। आयुर्वेद के प्रति अपनी असाधारण निष्ठा के कारण महामना मालवीय ने देश के वैद्यों का भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और वह थोड़े ही दिनों में आयुर्वेद-जगत के भी आदरणीय नेता बन गए। १९२६ में जयपुर में १६ वाँ अधिवेशन निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन का हुआ जिसकी अध्यक्षता मालवीय जी ने की। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में वैद्यों का ध्यान एक ऐसे आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना की ओर आकृष्ट किया जिसके साथ अनुसंधान विभाग, एक बड़ा अस्पताल, एक औषधागार, एक आयुर्वेद-वाङ्मयसंशोधन संस्थान तथा आरोग्यकेन्द्र सम्मिलित हों। उसी वर्ष (१९२६) में हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना हुई। १४ दिसम्बर, १९३९ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के १२ वें दीक्षान्तसमारोह के अवसर पर अपने भाषण में मालवीय जी ने आयुर्वेदिक कालेज की चर्चा करते हुए कहा कि—

विद्वानों का एक समूह इस उद्योग में व्यस्त है कि वे कला, विज्ञान तथा आयुर्वेद विषय की पाठ्यपुस्तकों की रचना हिन्दी में करें। हमलोगों ने एक टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, ला कालेज तथा एक आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना की है। इसी से लगा हुआ एक अस्पताल भी है जहाँ एक सौ रोगियों के ठहराने का प्रबन्ध है और जहाँ भारतीय आयुर्वेद में उच्चकोटि की शिक्षा के साथ वर्त्तमान प्रचलित ढंग पर शरीर विच्छेद-शास्त्र, शरीर-शास्त्र और

चीड़-फाड़ में भी शिक्षा दी जाती है। एक वहुत बड़ा चीर फाड़ का कमरा बनाकर तैयार किया जा रहा है।

इस आयुर्वेदिक कालेज में देश के चोटी के आयुर्वेदज्ञ प्राध्यापक रक्खे गए तथा प्रयोगशालाओं की भी व्यवस्था की गई। सर सुन्दरलाल अस्पताल में मालवीय जी ने अपने आदर्श के अनुकूल चिकित्सा-विभाग आयुर्वेद का रक्खा तथा शल्य विभाग आधुनिक विज्ञान का क्योंकि, जैसा कि पहले कहा गया, उनका उद्देश्य था योग्य वैद्यों को उत्पन्न करना जो शास्त्रकर्म में भी दक्ष हों। साथ में औषधनिर्माणशाला तथा वनस्पति-उद्यान भी स्थापित हुआ। धीरे-धीरे इसने एक आदर्शरूप धारण किया और देश के कोने-कोने से छात्रों को आकर्षित करने लगा। यह उल्लेखनीय है कि भारत में यह पहला विश्व-विद्यालय था जिसमें आयुर्वेद को स्थान दिया गया और मालवीय जी प्रथम नेता थे जिन्होंने आयुर्वेद को इस आसन पर आसीन कर देश के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया।

संस्था के अतिरिक्त, व्यक्तिगत रूप से भी महामना मालवीय बाल्यावस्था से ही आयुर्वेद के भक्त थे और अन्तिम समय तक वने रहे। आश्चर्य की बात है कि देश के बड़े-बड़े डाक्टरों के संपर्क में रहने पर भी उन्होंने जीवन में कभी भी डाक्टरी दवा नहीं ली और इस प्रण को उन्होंने मृत्युपर्यन्त निभाया। इससे आयुर्वेद के प्रति उनकी असाधारण निष्ठा प्रकट होती है। प्राचीन और नवीन का जैसा अद्भुत सामंजस्य मालवीय जी में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीनता के वह पुजारी थे किन्तु रूढ़िवादी नहीं थे। यही आदर्श उनका आयुर्वेद के संबंध में था। यही कारण है कि उन्होंने आधुनिक विज्ञान, इन्जीनियरिंग आदि कालेजों के साथ-साथ चिकित्साविज्ञान की शिक्षा के लिए आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना की। उनका लक्ष्य नवीन के सहारे प्राचीन आयुर्वेद को विकसित करना था, जनता की सेवा के लिए शल्यकर्म-कुशल योग्य वैद्य उत्पन्न करना था। किन्तु मेडिकल कौंसिल की नीति के कारण व्यवहारिक क्षेत्र में बाधाएँ उपस्थित होने लगीं। शल्यकर्म-कुशल योग्य वैद्य तो तैयार हुए और उन्होंने नवीन आविष्कारों का भी ज्ञान प्राप्त किया किन्तु नवीन औषधों तथा शल्यकर्म के व्यवहार में अड़चने आने लगीं। इसी के कारण यहाँ के स्नातकों को वह मर्यादा भी प्राप्त नहीं हो सकी जो एक मेडिकल कालेज के स्नातक को आसानी से प्राप्त थी। इस लक्ष्मण-रेखा को पार करना कठिन हो गया और सिद्धान्त तथा व्यवहार के इस अंतर ने एक अशान्ति उत्पन्न कर दी। भारत की स्वाधीनता के बाद भी इस समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका और महामना मालवीय अपना स्वप्न और संकल्प अधूरा ही लेकर इस संसार से चले गए। उनके जीवन की संभवतः यह सबसे बड़ी मर्मान्तिक व्यथा रही होगी।

१९६० में आयुर्वेदिक कालेज समाप्त हुआ और उसके स्थान पर मेडिकल कालेज की स्थापना हुई। मेडिकल कालेज के पाठ्यक्रम में भी आयुर्वेद का कुछ समावेश कर क्षतिपूर्ति करने की चेष्टा की गई किन्तु मेडिकल कौंसिल के विरोध के कारण यह उपक्रम भी सफल न हो सका। १९६३ से स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान का कार्य प्रारम्भ हुआ जिसमें मौलिक सिद्धान्त, द्रव्यविज्ञान, कायचिकित्सा, शल्य तथा प्रसूति इन पाँच विभागों के अन्तर्गत स्नातकोत्तर शिक्षण के साथ-साथ विभिन्न विषयों पर अनुसन्धान-कार्य

भी हो रहे हैं। आयुर्वेद में अनुसन्धान-कार्य को अग्रसर कर उसे युगानुरूप बनाना महामना मालवीयजी की चिरवांछित अभिलाषा थी और निस्सन्देह इससे उनकी आत्मा को सन्तोष होगा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर महामना के संबंध में अनेक बातें याद आ रही हैं किन्तु आयुर्वेद की उनकी कहानी सबसे अनोखी है, जिसके प्रेम ने उन्हें भीतर ही भीतर जीवन भर जलाया। महामना मालवीयजी की आत्मा को संतोष तो उनके आदर्शों की रक्षा से ही होगा और इन आदर्शों में आयुर्वेद उनका परमोदात्त आदर्श था। उनकी इच्छा के अनुकूल आयुर्वेदिक कालेज पुनः प्रवर्तित कर उसके आधुनिक योग्य स्नातकों को यदि उचित मर्यादा और अवसर प्रदान किया जाय जिससे वे वैद्य होने के साथ-साथ आधुनिक चिकित्सा में भी दक्ष हों और जो ग्रामीण जनता की सेवा कर सकें तो उनकी आत्मा को और अधिक सन्तोष होगा तथा उनका वह सपना भी साकार होगा जो उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना में आयुर्वेद को स्थान देने के समय देखा था।

———

पश्चिमी भारत का हीनयान-कालीन लेण स्थापत्य

श्री पृथ्वीकुमार अग्रवाल
भारती महाविद्यालय.

ठोस चट्टान को छेनी-हथौड़े या टाँगी-बसूले की सहायता से खोखला कर उसमें विशाल मण्डप और प्रकोष्ठ बनाने की लयण स्थापत्य कला अशोक के समय से बिहार में प्रारम्भ होकर पश्चिमी और पूर्वी भारत की शैल शृंखलाओं में प्रायः १३-१४ वर्षों तक अक्षुण्ण रूप से विकसित हुई। भारतीय कला की इस भव्य शाखा का इतिहास स्वतन्त्र और महिमामय है जिसका सूत्रपात बराबर की पहाड़ियों में मौर्य अशोक के समय में हुआ और जिस प्रकार उसके स्तूपों की परंपरा का परवर्ती काल में उत्कर्ष हुआ वैसा ही इस गुहास्थापत्य का समुचित प्रसार सह्याद्रि की फैली हुई पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में प्रकृतिदत्त सुविधा और आन्ध्र-सातवाहन राजाओं के उदार आश्रय के फलस्वरूप हुआ। इस गुहास्थापत्य के अन्तर्गत बौद्ध चैत्यमंडप और विहार बनवाने के आन्दोलन का पहला युग प्रायः २ शती ई० पू० से २ शती ई० तक है जब कि लगभग ३०० वर्षों का एक निष्क्रिय व्यवधान है। हीनयान सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के कारण इस प्रथम युग को कला के इतिहास में **'गुहावास्तु का हीनयान काल'** इस नाम से भी अभिहित किया जाता है।

हीनयान बौद्ध धर्म की छत्रछाया में पल्लवित, गुहास्थापत्य की पश्चिमी भारत में निर्मित कृतियाँ प्रायः एक सीमित क्षेत्र में मिलती हैं। नासिक को केन्द्र मान कर २०० मील के अर्धव्यास से खींचा गया वृत्त उन सबको घेर लेता है। यद्यपि इस स्थापत्य के सबसे पुराने प्राप्त उदाहरण गया की पहाड़ियों में मौर्य अशोक और दशरथ ने आजीविकों के उपयोग के लिए पश्चिमी वर्ग की सबसे प्राचीन लेण से कम से कम ५० वर्ष पूर्व बनवाए थे किन्तु पश्चिमी भारत के इन गुफा-केन्द्रों में ही कला की सक्रियता और गतिशीलता में पूर्ण विकास हुआ। दूसरी शती ई० तक लगभग चार शतियों से अधिक समय के बीच बौद्ध धर्म के अन्तर्गत कम से कम दस ऐसे प्रमुख केन्द्र हैं जहाँ स्वतन्त्र रूप से लयण समूह बनाए गए जिनमें चैत्य प्रासाद या प्रार्थना मण्डप, जिसकी विशेषता उसमें स्तूप का होना है, और भिक्षुओं के रहने के लिए विहार या मठ—ये दो प्रकार के निर्माण हैं।

लगभग इसी युग की रचनाएँ खण्डगिरि और उदयगिरि में मिलती हैं जिनकी धर्म-प्रेरणा जैन सम्प्रदाय की देन थी। इनका स्थापत्य बौद्ध हीनयान उदाहरणों से कहीं अधिक विविध और स्वतन्त्र है, उसका आगे वर्णन किया जाएगा।

यद्यपि लयण-चैत्यगृह और विहारों के प्रारम्भिक उदाहरण सौराष्ट्र और दक्षिणी भारत में भी प्राप्त हैं किन्तु इसमें संदेह नहीं कि अपने पहले युग में—जिसे लयण स्थापत्य का हीनयान युग कहा जाता है—उनका स्थानगत विकास हुआ है। सह्याद्रि की पश्चिमी पर्वतमाला--जिसे पश्चिमी घाट कहा जाता है—वहीं प्रायः चार सौ वर्षों तक उनका केन्द्र

---

[1] लेखक की प्रकाश्य पुस्तक का एक अध्याय—सं०

था। यद्यपि सातवाहन नरेश जैसा कि उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है, ब्राह्मण धर्माव-लंबी थे किन्तु कला के क्षेत्र में उनकी उदारता और उनके युग की गौरव समृद्धि का परिचय पश्चिमी भारत की गुफाओं और दक्षिण के महान् स्तूपों के रूप में ही प्राप्त है।

किन्हीं अज्ञात कारणों से इस महनीय कला को लगभग ३०० वर्षों का व्यवधान देखना पड़ा और पुनः पाँचवी-छठी शती में प्रायः इसी प्रदेश में इस कला का पुनरुद्धार हुआ और कई उदाहरणों में पुराने केन्द्र भी अपनाए गए, जैसे अजन्ता। इस नए युग में बौद्ध धर्म की विचारधारा और दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन हो चुका था और जो बुद्ध की मूर्ति पहले न बनती थी अब उससे चैत्यगृह और विहार भरे जा रहे थे। अध्ययन की सुविधा के लिए इसे **महायान युग** कहते हैं। साथ ही ब्राह्मण धर्मों के अन्तर्गत भी इस स्थापत्य को नया उत्साह और वल मिला।

प्रारम्भिक लेणों में अधिकांश चैत्य मंडप हैं। यद्यपि भिक्षुओं के आवास के रूप में बनाई गई गुहाएँ भी हैं जिन्हें "विहार" कहा जाता है किन्तु शुरू में चैत्यमण्डप ही विभिन्न क्षेत्रों में संघ के स्थानीय संगठन का द्योतक है। गुहा स्थापत्य की दृष्टि से भी उसका महत्त्व निर्विवाद है। चैत्य मण्डप जिसे अभिलेखों में चैत्य-घर और साहित्य में चैत्य-प्रासाद भी कहा गया है, वस्तुतः प्रार्थना भवन या मन्दिर है जहाँ एक स्तूप या चैत्य बनाया जाता था। इसी कारण उसे यह नाम दिया गया था। वास्तु की रूपरेखा की दृष्टि से चैत्य प्रासाद सामान्यतः एक बड़ा वर्तुलाकार छतवाला द्वयस्र या वृत्तायत मण्डप होता है जिसे दो स्तंभ-श्रेणियाँ नाभि या वीच के भाग और पार्श्ववीथियों में बाँटती हैं और गोलाई लिए भाग की ओर एक स्तूप को घेरती हुई मिल जाती हैं। इस सम्पूर्ण रूपरेखा का वीज मौर्य-कालीन सुदामा तथा लोमस ऋषि नामक गुफाओं में ही मिलता है जिसका आगे विकास आयत और गोल प्रकोष्ठों को एक में संयुक्त कर स्तूप की गोलाई के लिए उपयुक्त बनाते हुए प्रदक्षिणा पथ की सुविधा देने के विचार से हुआ प्रतीत होता है। वर्तुलाकार किनारे पर चट्टान में ही काट कर बनाया गया लघुकाय स्तूप अपने स्वरूप में छत्रावली आदि से बड़े स्तूपों की भाँति ही सज्जित होता था। सामने आयत कोनों वाली तरफ प्रवेश द्वार होता है जिसका सामना, जिसे अभिलेखों में घरमुख कहा गया है, भव्य रूप से अलंकृत होता है जिसके ऊपरी भाग में चैत्य खिड़की या कीर्तिमुख की रचना एक विशेषता है।

स्पष्ट ही स्तूप या चैत्य इस निर्माण का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वस्तुतः उसी की आवश्यकता ने इस नवीन रूपरेखा और विधान को जन्म दिया। इस युग में बुद्ध प्रतिमा या अन्य किसी पूजावस्तु के अभाव में स्तूप ही धर्मप्राण भक्तों और उपासक भिक्षुओं के लिए भक्ति प्रदर्शन तथा प्रतीकात्मक रूप में साधना का माध्यम था। इस दृष्टि से विहारा-वली के साथ बने हुए निर्माणात्मक विशाल स्तूपों के रूप में बौद्ध संगठनों से इन पर्वतों के गर्भ में बने चैत्यघर और विहार वाले केन्द्रों की तुलना की जा सकती है। चैत्य इस प्रकार के स्थापत्य का इतना अभिन्न अंग था और बन गया कि बुद्ध प्रतिमा के बन जाने पर भी उसे नहीं छोड़ा जा सका। उसके बिना चैत्यगृह की कल्पना भी संभव न थी। इसी कारण महायान काल में भी चैत्यगृह बनाए गए यद्यपि स्तूप के साथ बुद्ध का नाना रूपों में मूर्त प्रदर्शन भी संलग्न था।

विहार रहने का मठ या संघाराम था। उसका स्वरूप प्रायः एक चौकोर मण्डप जैसा है जिसमें जाने के लिए सामने मुख्य द्वार है तथा भीतर पहाड़ी के अन्दर कटी हुई कोठिरियों के द्वार खुलते हैं जिनमें भिक्षु रहते थे। प्रारंम्भिक काल में चैत्य मण्डप के साथ मिला हुआ एक विहार होता था। कालान्तर में आवश्यकतावश विहारों की संख्या बढ़ी। कभी-कभी केवल दो या तीन मात्र एक कोष्ठ या गर्भ वाले विहार भी हैं जिनका निर्माण इन एकान्त प्रदेशों में संघ के विकसित होने पर किन्हीं विशिष्ट स्थविरों के उपयोग के लिए हुआ होगा।

इस स्थापत्य की शुरुआत में ही कुशलता का अन्यतम प्रदर्शन इस बात का द्योतक है कि वे शिल्पी नौसिखिए नहीं थे। भले ही उन्होंने इस शैली के निर्माण में हाथ हाल में ही लगाया था किन्तु उनके द्वारा बनाए गए प्रारंभिक उदाहरण ही आश्चर्यजनक और कला के गौरव हैं। हमारे पास कोई साधन नहीं जिससे कि उनके द्वारा इस कला में क्रमशः निपुणता प्राप्ति का क्रम देखा जा सके। वस्तुतः प्रारम्भिक उदाहरण ही उत्कृष्ट नमूने बन पाए हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इसके पूर्व लकड़ी के काम में सिद्धहस्त लोगों को पत्थर में वैसे ही निर्माण का भार मिला जो वे लकड़ी में सदियों से बनाते चले आ रहे थे।

यह गुहास्थापत्य लकड़ी के वास्तु की अनुकृति पर विकसित हुआ इस का प्रमाण उसमें ऐसी बारीकियाँ, जोड़ और बंदों का मिलना है जो लकड़ी की इमारत के अनिवार्य अंग होते हैं। काष्ठतक्षण की परम्परा को पूरी तरह से शिल्पियों ने जारी रखना चाहा यद्यपि किन्हीं स्थलों पर वह अनावश्यक सिद्ध हुआ। लकड़ी का अलग से प्रयोग भी इसी कारण जारी रहा कि अब तक काष्ठ शिल्प के सौन्दर्य में अभ्यस्त आंखों को अन्तर न मालूम हो। किन्तु धीरे धीरे शिल्पी ने अपने को इस प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया, जिसमें उसे सफलता मिली, यह प्रस्तुत उदाहरणों से स्पष्ट है। इस कारण किसी सीमा तक लकड़ी की अनुकृति और उसके प्रयोग की मात्रा इन चैत्यघरों के कालक्रम निर्धारण में हमारी सहायक हो सकती हैं। जैसे—

१—स्तम्भों का झुकाव। अन्तरंग भाग के स्तंभों में कुछ झुकाव मौजूद है जो ऊपर के भारी बोझ को सम्भालने के लिए लकड़ी के वास्तु में आवश्यक था। इसके अनुसार तिथिक्रम निश्चित करने में स्तम्भों का झुकाव हमारी सहायता कर सकता है। अर्थात्, जितना अधिक झुकाव होगा—रचना काष्ठवास्तु के उतनी ही पास होगी। यह बात लोमस ऋषि गुहा के प्रवेश द्वार की बारशाखाओं से ही देखी जा सकती है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, सचमुच शिल्पी क्रमशः इस झुकाव को अनावश्यक समझते हुए कम करते गए हैं और जो भाजा चैत्यघर में ५" है अजंता के चैत्यघर तक पहुँचते-पहुँचते प्रायः समाप्त हो जाता है।

२—इतना ही नहीं स्तंभों की बनावट में भी कुछ विकासक्रम का बोध होता है। प्रारंभिक उदाहरण सामान्यतया शीर्षरहित हैं। उनके नीचे से आधार का घड़े जैसा आकार बहुत कुछ लकड़ी के स्तम्भों के साथ प्रयुक्त घटों से गृहीत है। अनुमान है कि

दीमक आदि से बचाने के लिए काष्ठ स्तम्भों को पत्थर या मिट्टी के घटों में स्थापित किया जाता था।

३—किन्हीं उदाहरणों में छत में लकड़ी की धरन तक प्रयुक्त हुई हैं। बाद में उन्हें पत्थर में ही काट कर बना दिया गया है। किन्तु फिर भी काष्ठवास्तु का प्रभाव स्पष्ट है।

४—चैत्यमुख और कभी कभी पूरे घरमुख में लकड़ी का प्रयोग मिलता है। यह अलंकरण की दृष्टि से काफी समय तक अपनाया जाता रहा।

५—काष्ठ शिल्प का प्रयोग और प्रभाव स्तूप और उसके छत्रावली आदि भागों में भी दृष्टिगोचर होता है और तिथिक्रम के निर्धारण में उससे भी पर्याप्त सहायता मिलती है।

किन्तु इसके विपरीत कई ऐसी विशेषताएँ इस स्थापत्य के साथ जुड़ी हुई हैं जो पर्वत को भीतर से काट कर खोखला करने की समस्या से संबन्धित हैं और उसकी कठिनाई के साथ विकसित हुई प्रतीत होती हैं। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अंग चैत्य खिड़की या कीर्तिमुख है। इस स्थापत्य की रचना प्रणाली के अध्ययन से स्पष्ट है कि पहले एक पहाड़ी का चुनाव कर लेते थे और उसमें ऊपर की तरफ से छेद कर भीतर निर्धारित स्वरूप में चट्टान को खोखला करते हुए नीचे की ओर आते थे। इस दृष्टि से पहले बना हुआ यह छिद्र अनिवार्यतः रचना के साथ जुड़ा था। उसी से मलवा आदि निकालने का काम लिया जाता था। बाद में इसे सुन्दर आकार देकर लकड़ी के ढाँचे से नानाविध सजाने लगे। यह प्रकाश वायु आदि जाने का भी मुख्य मार्ग था। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में —

"पहाड़ में गुफ़ाएँ काटने की एक निश्चित प्रणाली थी। सबसे पहले पहाड़ का आगे का भाग दीवार की तरह चौरस बना लिया जाता था। उसके ऊपरी भाग से कटाई का काम शुरू होता था। उसमें एक चौड़े गोल मुंह को सबसे पहले खोखला करते थे। ज्यों ज्यों काटते हुए आगे बढ़ते भीतर का मलवा उसी छेद या बिल में से बाहर फेंकते जाते थे। जब भीतर का चैत्यमण्डप, प्रदक्षिणा पथ, खंभे आदि सब तैयार हो जाते तब उसी गोल मुंह को और चौड़ा कर के उस गुफा के मुंख को ऊपरी मुख के रूप में बना लिया जाता था। उसी से मण्डप के भीतरी गर्भ में प्रकाश और वायु का मुख्यतः प्रवेश होता था। इसे आजकल "चैत्यवातायन" कहा जाता है। इसी को कीर्तिमुख कहा जाता था।"[१]

कीर्तिमुख के आकार में आरम्भ से ही एक विकास मिलता है और जिससे समय निर्धारण में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। श्री पर्सी ब्राउन के अनुसार—इसके अतिरिक्त, घरमुख के मुख्य अंगभूत चाप की विशेष आकृति है, जिसका घुमाव शैली के विकास के

[१] कीर्तिमुख और कीर्तिस्तम्भ, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६१ संवत् २०१३ अंक, १, पृ० ६५-८६।

साथ बदलता है, अतएव इस नियम को लागू किया जा सकता है कि जितने प्रारंभिक घुमाव हैं, उतना ही पहले का उदाहरण है। यह बात क्षण भर के लिए बराबर की पहाड़ियों में पिछले समूह की ओर लौटने से सिद्ध हो सकती हैं, जिनमें लयण स्थापत्य का आदि प्रयास है, लोमस ऋषि का, जिसका घरमुख मात्र आपट्टित फलकों के संयोजन वाला त्रिभुजाकार सिरा उचित कोण तक मुड़ा होने की अपेक्षा झुका हुआ प्रदर्शित करता है। प्रायः एक शती उपरान्त हीनयान श्रेणी के सम्प्रति वर्णन किए जाते प्राचीनतम उदाहरण में, जो भाजा का है, घरमुख में घोड़े की नाल वाला विशिष्ट चाप प्रथमतः दिखता है, किन्तु यह सीधे खड़े खम्भों वाले प्रकार का है, और इसके निर्णायक मोड़ इसके बोधक हैं कि यह स्फुट विशेषता आकारग्रहण की प्रक्रियासे गुजर रही थी। कोण्डाने का घरमुख अनुगामी था और एक प्रगति बताता है, क्योंकि वहाँ चाप की कमानी की ओर तनिक अन्दरूनी लौटाव है, तथा समग्र रूप कहीं अधिक जोरदार तथा रूपरेखा में निश्चित है। अजंता में (संख्या ९) तथा कार्ला में चैत्य-चाप मोड़ों के सूक्ष्म और परिष्कृत सम्मिलन से निर्मित होने से अपनी प्रारम्भिक परिपक्वता को प्राप्त कर चुका है, वह स्वरूप जो अवशिष्ट हीनयान काल में बनाए रक्खा। तदुपरांत, अनुवर्ती महायान शैली में जैसी अजंता के चैत्यमण्डप १९ में है, चापीकृत विवर अतिशयता की ओर प्रवृत्त होता है, आधार पर संकुचित तथा अपने मोड़ों में अधिक भड़कीला हो जाता है, जब तक कि सातवीं सती एलौरा की विश्वकर्मा के घरमुख में यह नाल जैसा चाप अब आगे नहीं रह जाता, परन्तु प्रायः पूर्ण वृत्त है। अंततः जब कि चैत्य-चाप-अभिप्राय ब्राह्मण मंदिरों में आलंकारिक विशेषता के रूप में दिखाई देता है, यह अनेक प्रकार के स्वरूप ग्रहण कर लेता है'।[१]

इसके अतिरिक्त काल निर्धारण में सहायक मिले हुए अभिलेखों से प्राप्त सूचना, उनकी लिपि, स्तूप का आकार जिसमें ऊँचाई और अलंकरण बढ़ाने की प्रवृत्ति उन्हीं रूपों में मिलती है जो बड़े-बड़े स्तूपों में देखी जाती है, बौद्ध प्रतीकों की विशेषता आदि के अध्ययन के आधार पर भाजा का चैत्य मंडप सबसे पुराना लगभग २०० ई० पू० का और हीनयान युग में कन्हेरी का चैत्य मंडप (लगभग २०० ई० में) सबसे बाद का सिद्ध होता है। अन्य प्रमुख चैत्यमंडप इस कालावधि के बीच बने होंगे जिन्हें गृहीत कालक्रम में यों रक्खा जाता है —

१—भाजा, २—कोण्डाने, ४.—पीतलखोरा, ४—अजंता (संख्या १०), ५—बेदसा, ६—अजंता (संख्या ९), ७—नासिक, ८—कार्ला, ९—जुन्नर, १०—कन्हेरी।

भाजा :

निस्संदेह यह प्रारंभिक प्रयास का उदाहरण है जो सामान्य रूपरेखा पर मध्यम आकार का है। घरमुख और द्वार भग्न होकर इस समय विशाल खुली मेहराबदार जगह के रूप में ही बच रहे हैं जिससे मंडप का भीतरी भाग दृष्टिगोचर होता है। मेहराबदार घरमुख लकड़ी के अलंकरणों से सज्जित था जो इस समय लुप्त हो चुका है। तो भी अभी कीलों के छेद देखे जा सकते हैं जिनसे उन्हें जड़ा गया था। चौड़े खुले मुहार के ऊपरी

---

[१] पर्सी ब्राउन, भारतीय स्थापत्य—हिन्दू एवं बौद्ध, द्वितीय सं०, पृ० २६।

भाग को भरने वाला ढाँचा नष्ट हो चुका है किन्तु उसका क्या स्वरूप था इसका अनुमान उसके अलंकरण-रूप अनेक अंकनों से हो सकता है जो इसके अगल-बगल बने हैं।

भीतर प्रदक्षिणा पथ की पूरी लम्बाई में दोनों ओर तथा स्तूप को घेरते हुए कुल २७ खम्भे हैं जिन पर गजपृष्ठाकृति छत टिकी है। छत में लकड़ी की कमानीदार धरने लगाई गई थीं और उनमें से कई आज तक वर्तमान हैं। इसका आकार ५५′×२४′×२९′ हैं। ३′ चौड़े प्रदक्षिणापथों की छत अर्द्धवर्तुल है। ११′ ऊँचे, अष्टमुखी यष्टि के सादे स्तंभ लकड़ी के खंभों की भाँति झुकाव लिए हुए हैं। अर्द्धचन्द्राकार भाग में स्थित स्तूप की हर्मिका छत्रावली सहित लकड़ी की बनी है। स्तूप का स्वरूप नितान्त सामान्य तथा बेलनाकार अधिष्ठान पर वेदिकामय हर्मिका युक्त ऊँचे अण्ड वाला है।

फर्गूसन के शब्दों में—प्रत्येक वस्तु, सचमुच जो लकड़ी से बनाई जा सकती थी लकड़ी में रक्खी गई है; तथा स्थायित्व के लिए आवश्यक केवल रचनात्मक भाग चट्टान में बनाए गए हैं।

कोण्डाने :

यहाँ का चैत्यमण्डप भाजा की ही भाँति किन्तु उससे कुछ अधिक बड़ा है और अन्दर से काफी ध्वस्त है। इसका आकार ६६′×२७′×२८′ है। इसकी चैत्यखिड़की कहीं अधिक सुन्दर है और उसमें लकड़ी का प्रयोग कम करते हुए वैसी ही बात पत्थर में उकेर दी गई है। फर्गूसन के शब्दों में—"यह चैत्य (मंडप) रोचक है जहाँ तक कि इसका घरमुख भाजा से भी कहीं अधिक, जिससे कि यह विकसित हुआ, काष्ठकृतियों का शब्दशः प्रतिरूप है। जो किसी भी बात में प्रस्तर निर्माण का चिन्ह नहीं प्रकट करता और जिसे चिनाई में बनाना शायद ही संभव हो उन रचनात्मक भागों की आगे लटकी बनावटों के अनुकरण से बढ़कर कुछ भी 'शब्दशः' नहीं हो सकता। घरमुख पर अलंकरण के रूप में कीर्तिमुख अनेक बार बनाया गया है।

पीतलखोरा :

पीतलखोरा लयण समूह में संख्या ३ चैत्यघर है जो पूर्ववत् रूपरेखा पर बना हुआ ३५′ चौड़ा तथा ८६′ लम्बा वृत्तायत है। मूलतः इसमें चट्टान में कटे ३७ अट्ठांसिक स्तम्भ थे जो मण्डप को प्रदक्षिणापथ से अलग करते थे। बचे हुए पुराने १२ स्तम्भों में भीतर की ओर प्रायः ३″ झुकाव अब भी मौजूद है और वे भाजा और अजन्ता (संख्या १०) के स्तम्भों जैसे हैं। नाभि की छत में किसी समय लकड़ी की धरन प्रयुक्त हुई थीं जिनके जड़े जाने के चिह्न अब भी देखे जा सकते हैं यद्यपि वे पूरी तरह से नष्ट हो चुकी हैं। ५′ चौड़े प्रदक्षिणा पथों में पत्थर में खुदी कमानियों का आकार अर्द्धचाप जैसा है।

चट्टान में खराबी के कारण इसका स्तूप आधा चट्टान में कटा और आधा निर्माणात्मक था। इस समय इसका अधिष्ठान मात्र अवशिष्ट है जिसकी परिधि ३६′ है और अण्डभाग जो चिनाई का था लुप्त हो चुका है।

अजंता (संख्या १०) :

यह अजन्ता लेणसमूह में सबसे पुराना है। इसका विशाल आकार शिल्पियों में

बढ़ते हुए आत्मविश्वास और उत्साह का द्योतक है। इसकी लम्बाई ९७′ तथा चौड़ाई ४१′ है जब कि ऊँचाई ३३′ है। मध्यमण्डप पार्श्वगलियों से ३९ आधार-शीर्ष-हीन स्तम्भों द्वारा अलग हैं जिनकी यष्टि सादी अठपहल है। उनमें अब भी कुछ झुकाव विद्यमान हैं। लकड़ी का प्रयोग पीतलखोरा चैत्यघर जैसा है और स्तूत का अण्ड लम्बायमान हो गया है। यद्यपि इसमें भी भाजा या कोण्डाने के उदाहरणों की भाँति लकड़ी से ही घरमुख सज्जित था किन्तु इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात इसके विभिन्न भागों के निर्माण में वास्तुपरक बल दिया जाना है।

अजन्ता (संख्या ९) :

यह चैत्यमण्डप आकार में छोटा (४५′×२२′ ३९″×२३) तथा भिन्न रूपरेखा का है। वर्गाकार छेंकन होते हुए भी स्तूप और स्तम्भों की वही स्थिति है जो कि द्वयस्र प्रकार में मिलती है। नाभि की वर्तुल छत में मूलतः लकड़ी की वल्लियाँ जड़ी हुई थीं किन्तु उन्हें बाद में अनावश्यक जानकर कभी प्रारम्भिक समय में ही निकाल दिया गया। छठी शताब्दी के कुशल चितेरों ने इस स्तम्भ पंक्ति के ऊपर भित्ति में रिक्त एवं खुले स्थान का भरपूर उपयोग किया जिनकी कलाकारी के नमूने इस लेण में मिलते हैं। इस चैत्यघर के स्तम्भ सादे अठकोन और लम्बवत् हैं।

प्रदक्षिणापथों की छत एकदम सपाट है और चैत्यघर में जाने के लिए उस ओर से भी अलग-अलग दो द्वार हैं। इस प्रकार मुख्य घरमुख को लेकर तीन प्रवेश द्वार हैं। इसके मुहार या घरमुख की यह विशेपता है कि समस्त अलंकरण पत्थर में काटे गए हैं। अत्यन्त संतुलित और भव्य स्वरूप होने के साथ लकड़ी के पंजर का अभाव निश्चित विकास का सूचक है।

नासिक :

नासिक का पाण्डुलेण चैत्यघर सामान्य वृत्तायत रूपरेखा पर ही निर्मित हैं किन्तु अनेक बातों में वह अजन्ता (संख्या ९) के समान और उसका अनुवर्ती है। इसका घरमुख अत्यन्त पूर्ण और विकसित नमूना है, किन्तु तो भी इसकी बारीकियाँ लकड़ी के स्वरूपों से अनुकृत हैं यह काष्ठ-पंजर का नितान्त अभाव होने पर भी स्पष्ट है, क्योंकि यह बात इस सारे स्थापत्य की निहित विशेपता है। प्रवेश द्वार के ऊपर बना हुआ प्रतीकों से अलंकृत अर्द्धचन्द्र पाण्डुलेण के घरमुख का आकर्षक भाग है। कीर्तिमुख के अगल-बगल बने हुए अभिप्राय, जैसे ऊपर नीचे वेदिका अलंकरण के बीच में स्तूप तथा पशुशीर्षक, फारसी शैली के अर्द्धस्तम्भ घरमुख की नवीन बातें हैं। द्वार का निचला भाग इतना अधिक ध्वस्त है कि बनी हुई मूर्तियों का वर्णन कठिन है। उसके ऊपरी अलंकरण की तुलना प्रायः समकालीन साँची के उत्तरी तोरण से की जाती है। शिल्प का महत्त्व अब निर्माताओं ने स्वीकार किया था—यह बात चैत्यघर के भीतर मुख्यतः स्तम्भों में पूर्णतया दृष्टिगोचर है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में "उन्होंने कुछ पर चौकोर फलक-जैसा एक प्रारम्भिक शीर्षक जोड़ दिया है। इस संबंध में एक विलक्षण तथ्य यह है कि स्तम्भ के शीर्षकों की अपेक्षा उसके आधारों के अलंकरण पर अधिक ध्यान दिया गया है, जैसा कि यहाँ सर्वप्रथम घटाकार आधार मिलता है जो अभिप्राय कीड़ों से क्षति या सीलन का असर बचाने के लिए लकड़ी की बल्ली के निचले

सिरे को घड़े में पधराने की आदिम तरकीब से लिया गया अनुमित है। अन्य ध्यातव्य गुण जो इस चैत्यमंडप के स्तम्भों को अलग करता है, उनका अनुपात है। अधिकांश शैलखनित मंदिरों के विशाल और भारी स्तम्भों की जगह ये लम्बे और पतले हैं; उनका व्यास ऊँचाई का आठवाँ हिस्सा है जो अनुपात लगभग उसी समय के उत्कृष्टतम यूनानी तथा रोमन नमूनों के बहुत पास है।" भीतर स्थित स्तूप में विकास के लक्षण लंबे ढोल जैसे आधार पर छोटे अण्ड की रचना में भी स्पष्ट हैं। अन्य उल्लेखनीय बात प्रवेश के ऊपर अंदरूनी और लकड़ी का छज्जा जोड़े जाने के लिए दरार और छेद मिलना है, जिस पर बैठ कर संभवतः संगीत आयोजन होता था।

वेदसा :

इस चैत्य तक पहुँचने का १२-१३ गज लम्बा मार्ग चट्टान के बीच में से है जिसे अलग ऐसे ही छोड़ दिए जाने के कारण चैत्यघर का सम्मुख रूप सामने से काफी छिपा रहता है। यह खेदजनक है क्योंकि यहाँ का घरमुख नितान्त नई आयोजना है और चट्टान से छिप जाने तथा मात्र ५ फुट के रास्ते के कारण उसकी भव्यता का अनुमान दूर से नहीं हो पाता। सामने के स्वतन्त्र खड़े दो स्तम्भ तथा अन्य दो अगल-बगल के अर्धस्तम्भ अपने बारीक अलंकरण और बनावट में मानो अशोक स्तम्भों की परम्परा को पुनरुज्जीवित करते हैं। उनका आधार घड़ेनुमा है जिसमें से उद्गत यष्टि के ऊपर घट-पल्लव प्रकार का तथा-कथित पारसी घंटाकृति का अण्ड बनाया गया है जिस पर हाथी या घोड़ों पर चढ़ी मिथुन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। यद्यपि वर्तमान अवस्था में ये स्तम्भ बरांडे की छत को टिकाए हुए हैं, जो कि वस्तुतः चट्टान में ही काट कर बनाई गई है किन्तु इनका आकार इतना विशाल है कि ये स्वतन्त्र स्तम्भ थे इसमें संदेह नहीं। इस अलिंद की दीवारों की विशेषता जाली या वेदिका और कीर्तिमुख अभिप्राय से भरा होना है।

सामने बृहदाकार चैत्य मुख, तोरणालंकरण युक्त प्रवेशद्वार इत्यादि हैं। अग्रभाग की समस्त सज्जा पत्थर में ही उत्कीर्ण है। द्वारशाखाओं का किंचित् भीतर की ओर झुकाव उल्लेखनीय है। चैत्यमण्डप का अंतरंग मात्र ४५' लम्बा तथा २१' चौड़ा है तथा नाभि और प्रदक्षिणापथ को अलग करने वाले स्तंभों का झुकाव अभी भी पहचाना जा सकता है। स्तूप के दाहिनी ओर के पाँच खंभों को छोड़कर सभी स्तंभ सादे हैं। उन पर फुल्ले तथा बौद्ध चिह्न बने हुए हैं। अन्य स्तंभों पर संभवतः किसी समय चित्र बने हुए थे।

स्तूप के लम्बे आधार के ऊपर नीचे वेदिका का अलंकरण बना हुआ है जिस पर उसी भाँति वेदिका युक्त अंड है। लघुकाय हर्मिका पर भारी भरकम शीर्षक के ऊपर लकड़ी की चौकार यष्टि है जिस पर किसी समय भारी छत्र टिका था। यद्यपि इस समय इसमें प्रयुक्त काष्ठ के अवशेष पूर्णतया लुप्त हो चुके हैं किन्तु वस्तुतः इसमें लकड़ी की धरनें जड़ी हुई थीं जिनकी सूचना १९वीं शती के प्रारंभिक भाग के किन्हीं दर्शकों के विवरणों से मिलती है।

कार्ला :

कार्ला का चैत्यघर अपने वर्ग का निःसंदेह सबसे बड़ा तथा सर्वाधिक सुरक्षित नमूना है। इसकी उत्कृष्टता तथा भव्यता में दो मत नहीं हो सकते। साथ ही इसमें कई

अभिलेख भी मिलते हैं जिनसे गुफा की तिथि का अनुमान भी संभव है। फर्गूसन के शब्दों में, "यह, निश्चय ही, भारत में सबसे बड़ी, साथ ही साथ सर्वाधिक पूर्ण चैत्यगुफा है और उस समय खोदी गई थी जब कि शैली अपनी महत्तम उदात्तता में थी। इसमें पिछले नमूनों के सभी वास्तुगत दोष दूर हो चुके हैं; नाभि के स्तंभ ठीक लम्बवत् हैं। अग्रभाग शिल्प से अलंकृत है—स्पष्ट ही इसका इस जगह पहली बार आविर्भाव है—तथा शैली एक पूर्णता को प्राप्त कर चुकी है जिसका बाद में कभी अतिक्रमण न हो सका।"

इस बात की पुष्टि मण्डप के बाएँ भाग में उत्कीर्ण समकालीन लेख भी करता है जिसके अनुसार "वैजयन्ती के सेठ भूतपाल ने (इस) सैलघर को प्रतिष्ठापित किया जो जंबूद्वीप में सर्वश्रेष्ठ है।" यह कोई मामूली दावा नहीं था जो कि इसके निर्माता ने अभिलेख में स्वयं किया है। निश्चय ही यह इस बात का प्रमाण है कि इस चैत्यघर के बनाने वाले अपनी कृति की श्रेष्ठता और विशेषता से पूरी तरह अवगत थे। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि एक स्वर से प्राचीन और अर्वाचीन कलाविदों ने इसे हीनयान काल का सार्वोत्कृष्ट और आदर्शरूपेण प्रभावोत्पादक नमूना माना।

संस्थापकों और प्रारंभिक दानदाताओं के लेखों के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण अभिलेख शकराज नहपान के जामाता उषवदात और सातवाहन (वासिष्ठीपुत्र पुलमावि) के हैं जिन्होंने कार्ला के 'चातुदिस संघ' के 'यापन' अर्थात् संचालन के लिए गाँव तथा अन्य संभार दान दिए थे।

गुफा के प्रवेश द्वार के सामने एक विशाल स्तंभ बना है जिस पर चार सिंहों की बैठकी है। दाहिनी ओर भी मूलतः ऐसा ही दूसरा सिंह स्तंभ था जिस पर बौद्ध धर्म का प्रतीक चक्र स्थित था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बाहरी भाग या अलिन्द गुफा से आकार में बड़ा है। उसकी चौड़ाई ५२ फुट तथा गहराई १२ फुट है और वह सामने की ओर एक बाह्य पर्दे या आवरण से बंद था जिसके प्रधान अंग दो भारी, बिना जगती और शीर्ष के, अठकोन खंभे हैं। इस समय उन पर अनगढ़ चट्टान टिकी हुई है जो पहले लकड़ी की बनी शाला से सज्जित थी। निःसन्देह वह काष्ठनिर्मित शाला या संगीत-कक्ष घरमुख का प्रमुख अलंकार था। उसके ऊपर चार खंभों और अगल-बगल के दो थमलों का एक जँगला-सा था जिससे होकर विशाल चैत्यमुख में प्रकाश जाता था। उसके ऊपर भी लकड़ी की बनी एक सज्जा थी जिसका ठीक स्वरूप इस समय बताना मुश्किल है।

परवर्ती काल में यहाँ की शिल्प-योजना में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया गया। मूलतः पार्श्व भित्ति में खुदे तीन हाथियों के सर पर रथिकायुक्त अलंकरण पट्टी बनी थी जो बाद में बुद्ध प्रतिमाएँ घुसेड़ने के लिए तराश दी गई थी। उसके ऊपर वेदिका अभिप्राय और एक भारी पट्टी थी और फिर वेदिका की भाँति थी जिसका सिलसिलेवार बढ़ाव विशाल चैत्य खिड़की की देहली का काम करता है। उस पर चैत्यघर के मुहार का अभिप्राय बनाया गया है जिनके बीच में मिथुन बने हुए हैं जो अपने आकर्षण और शिल्प के 'गठन' की दृष्टि से अनूठे हैं। उनकी मानव आकृतियों का भरापन, मांसलता और गोलाई शिल्प की अभिव्यक्ति का मानो मापदण्ड स्थापित करती है। ऊपर चैत्यमुख और वेदिका के अभिप्राय कई बार दुहराए गए हैं।

चैत्यखिड़की के नीचे वाली भित्ति भी परवर्ती शिल्पियों द्वारा जहाँ-तहाँ दूसरे ढंग में बदल दी गई है। वेदिका पट्टियों को काटकर वहाँ बुद्ध तथा संवद्ध आकृतियाँ हैं जो उच्च शिल्पकला की थाती हैं।

मण्डप में भीतर जाने के लिए तीन प्रवेश हैं। बीच वाला जा कर नाभि में तथा बगल वाले दो द्वार प्रदक्षिणापथ में निकालते हैं। भीतर चैत्यमंडप १२४ फुट लंबा और ४५ फुट चौड़ा है। बगल की वीथियाँ खंभों की मोटाई लिए-दिए केवल १० फुट ही चौड़ी हैं जब कि नाभिभाग २५ फुट फैला है। नाभि मंडप तथा परिक्रमा वीथियों को अलग करने वाली स्तंभ पंक्ति में ३७ खम्भे हैं।

प्रत्येक स्तंभ घटाकर जगती तथा वर्गाकार फलक पर हाथी घोड़ों पर चढ़े युगलों वाले शीर्ष से युक्त है। प्रत्येक खम्भे के शीर्ष में बनी आकृति में अपनापन है, वह दूसरे से तनिक भिन्न है किन्तु अपनी नक्काशी और एकरूपता में सामान्यतः उनमें कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। युगल मूर्तियाँ प्रायः एक स्त्री और एक पुरुष हैं, कभी-कभी दो स्त्रियाँ भी दिखाई गई हैं। उनकी खुदाई तथा गढ़न इस तरह की सामान्य मूर्तियों से बहुत सुन्दर हैं। उनकी यष्टि अठकोन है। गजारोही युगलों के सामान्य शीर्षक के अपवाद स्वरूप दाहिनी ओर के आठवें स्तंभ पर एक स्तूप वना है और स्तंभ में १३ कोन हैं। पार्श्व श्रेणियों के ३० अलंकृत स्तभों के विपरीत अन्य ७ खंभे, जो स्तूप को घेरते हैं, सादे अट्ठंसिक हैं, जिनमें आधार या शीर्षक नहीं हैं।

स्तम्भ शीर्षों के ऊपर अर्ध वर्तुलाकार छत को अलंकृत करने वाली लकड़ी की घरनों पर दृष्टि जाती है। छत की ऊँचाई गुफा की भूमि के ऊपर ४५ फुट है। गोल सिरे पर स्थित स्तूप सामान्य अण्डयुक्त है जो द्विभूमिक या दुहरे चबूतरे के ऊपर बना है। जमती या चबूतरे पर दिखाए गए दोनों प्रदक्षिणा मार्ग वेदिका से घिरे बनाए गए हैं। स्तूप ऊँचा नलाकार है और काष्ठ का उसका छत्र अभी तक सुरक्षित है। उसके ऊँचे स्वरूप के कारण मण्डप की शोभा बढ़ी हुई प्रतीत होती है।

अनुमान है कि बगल की दीवारों पर चित्रकारी भी की गई थी। इस बात की पुष्टि पलस्तर या चित्रों के लिए तैयार की गई भूमि के लेप के अवशिष्ट चिन्हों से होती है। स्तूप के पास बाईं ओर फर्श से लगभग १० फुट की ऊँचाई पर चित्रित वेदिका-अलंकरण पहचाना जा सकता है।

चैत्यमंडप का अन्तरंग भाग अत्यन्त प्रभावशाली तथा दिव्य है। विशाल कीतिमुख से प्रविष्ट होने वाला प्रकाश सीधा स्तूप पर नहीं पड़ता वल्कि उसके सामने के भाग को उद्योतित करता है और स्तूप पर रोशनी तिरछी पड़ती है। पार्श्व स्तम्भों पर भी धूमिल प्रकाश ही रहता है जब कि प्रदक्षिणा वीथियों में रहने वाला मंद अंधकार गम्भीर तथा धर्मभावनामय वातावरण उपस्थित करता है। चैत्यवातायन से भीतर फैलने वाले प्रकाश के कारण कार्ला के मण्डप में अंधकार तथा ज्योति का जो अंधप्रकाशित अंतरंग बना रहता है उसका प्रभाव दर्शक और भक्त को अपने में डूब जाने का आवाहन करता है। ऐसी बात अन्य जगहो पर प्रायः नहीं देखने में आती।

जुन्नर :

जुन्नर में तथा आस पास लगभग छोटी बड़ी २०० गुफाएँ गिनी जा सकती हैं जो कई समूहों में बँटी हुई हैं। इनमें यद्यपि छोटे छोटे विहार भी हैं किन्तु महत्त्वपूर्ण शिवनेरी पहाड़ियों, तुलाज पहाड़ियों, मनमोद और गलाशपर्वत के चैत्यगृह हैं। यद्यपि इन गुफाओं में भाजा, बेदसा या कार्ला जैसी अलंकरणों की सज्जा नहीं है किन्तु गुहास्थापत्य के अध्ययन में इनका अपना महत्त्व है। इनमें सबसे प्राचीन मनमोद का चैत्यघर (सं० २९) है जो १०० ई० पू० के आस पास बना प्रतीत होता है। इसके विपरीत गणेशलेण समूह का चैत्यमंडप १०० ई० या १५० ई० में रक्खा जाता है।

मनमोद वर्ग का चैत्य गुफा की खराबी के कारण अधूरा ही छोड़ दिया गया था। आकार में उसका आदर्श बेदसा का चैत्यघर था और यदि वह पूर्ण हो जाता तो दोनों में समानता दर्शनीय होती।

तुलाज लेण वर्ग के चैत्यघर का महत्त्व उसके वर्तुलाकार में निहित है। उसका व्यास २६ फुट है जिसमें बीचोंबीच स्तूप बना है। उसको १२ सादे अट्ठंसिक खम्भे घेर कर प्रदक्षिणामार्ग बनाते हैं। इसकी छत १८ फुट ऊँची है और भरहुत शिल्प में उत्कीर्ण इस भाँति के उदाहरणों से यह अनुमान कठिन नहीं है कि लकड़ी में बने गोल चैत्य मंडप किसी समय बहुत प्रचलित थे। (निर्माणात्मक वर्तुल चैत्य मंदिर का उदाहरण बैराट् राजस्थान में खोदा गया है जो अशोककालीन प्रतीत होता है)।

गणेशलेण समूह में संख्या ६ चैत्यमंडप है जो यद्यपि आकार में छोटा है पर अपने में पूर्ण स्वरूप वाला कलात्मक होने से महत्त्वपूर्ण है। यों यह नासिक के घर जैसा ही बड़ा है और वहाँ के विहार स्तम्भों जैसे ही इसमें स्तम्भ बने हुए हैं पर इसकी तिथि प्रथम शती ई० में रक्खी जाती है। यह अन्दर से कुल ४५ फुट लंबा है और चौड़ाई में २४ फुट ही है। किन्तु छोटा आकार शिल्पी को स्तम्भों की कल्पना और उन्हें कार्ला के खम्भों जैसा विशाल रूप देने में बाधक नहीं प्रतीत हुआ। प्रदक्षिणावीथियों के दोनों ओर बने पाँच-पाँच स्तम्भ वैसे ही आकर्षक तथा कलापूर्ण शीर्ष वाले हैं। अन्तर केवल शिल्प के ब्योरे में है। जहाँ कार्ला में हाथी और आरोही युगल प्रदर्शित हैं यहाँ केवल पशुओं के समूह या संघाट ही बनाए गए हैं जिनमें सिंह या शार्दूल, चीते, और हाथी हैं। भीतर स्तूप लगभग १६ फुट ऊँचा है। इस चैत्यघर का सौन्दर्य इसकी आनुपातिक शिल्प सज्जा में है। फर्गुसन के शब्दों में—"इतना छोटा होने पर भी यह कहीं भी मिलने वाले पूर्णतम चैत्यघरों में से एक है। इसकी अनुपात योजनाएँ अच्छी हैं तथा वे सभी बातें जो कार्ला तथा अन्य पहली गुफाओं में यों ही उपयुक्त हुई हैं यहाँ भली-भाँति समझी हुई हैं और बिना झिझक के उनका उपयोग हुआ है। यह सबसे पहला ज्ञात उदाहरण है जिसमें प्रदक्षिणावीथियों की छत की बड़ेरियाँ ही नहीं प्रत्युत नाभिभाग में भी वे पत्थर में खोद दी गई हैं, और इस समय हट चुके छत्र के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी लकड़ी का नहीं था। यह ईसवी सन् की प्रथम शती के पूर्ण चैत्य-घर का सर्वोत्तम नमूना है।"

कन्हेरी :

यहाँ के गुफासमूह में सर्वाधिक महत्त्व का चैत्यघर है जो कार्ला के चैत्यघर की ठीक नकल है यद्यपि इसके बनाने वाले उतने कुशल नहीं मालूम होते। इसका सब कुछ वैसा ही है। पर यह कुछ छोटा है। इसकी मुख्य बात यह है कि इसका निर्माण हींनयान काल में ही हुआ था किन्तु जब तक यह बन कर पूरी हुई बौद्ध सम्प्रदाय में महायान विचारों ने अपना पूरा प्रभाव प्रतिष्ठित कर लिया था। इस कारण गुफा के बाहर अनेक बुद्ध मूर्तियाँ मौजूद हैं। सामने के बरामदे में २३ फुट की दो बुद्ध प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं जो छठी शती में बनी थीं।

इस चैत्य मंदिर में (६८ फुट×४० फुट) नाभि तथा स्तूप को घेरते हुए ३४ खम्भे हैं जिनमें से १८ के आधार तथा शीर्षक कार्ला गुफा के नमूने पर ही बने हैं, यद्यपि न ही उतने समरूप है और न उतनी कुशलता से गढ़े गए हैं। वर्तुलभाग के १५ स्तम्भ सादे अठकोन हैं। साधारण तथा अलंकरण हीन स्तूप १६ फुट अर्धव्यास का है। उसके छत्र तथा छत की अन्य काष्ठसज्जा कालक्रम से नष्ट हो चुकी है। सातवाहन शिल्प के नमूनों में मुहार में बनी आकृतियाँ हैं जिनके बलिष्ठ शरीर में उसी प्रकार के भारी आभूषण हैं तथा जिनकी शिरोभूषा शिल्पी ने बड़े मनोयोग से उकेरी है। मानव स्वरूप और वेशभूषा की यह बानगी फिर परवर्ती काल में कभी देखने को नहीं मिलती।

विहार या भिक्षुमठ :

हीनयान काल में चैत्य प्रासादों के साथ इने गिने भिक्षुगृह ही बनते थे क्योंकि इन एकान्त पवर्तीय भागों के बौद्ध संघ में सदस्य संख्या अभी कम ही थी। इस कारण इस काल के विहारगृहों में कोई विशेष विकास की बात नहीं मिलती। इनकी रचना पहाड़ के भीतर बनी सामान्य कोठरियों जैसी ही हुई जिसमें महत्त्वपूर्ण बातें निम्न हैं :—

१—एक बड़ा चौकोर स्तम्भहीन प्रांगण या मंडप।

२—उसमें एक ओर प्रवेश मार्ग तथा अन्य तीन ओर गुफा में बने हुए रहायशी कक्ष या प्रकोष्ठ जिनके द्वार बीच के प्रांगण में खुलते हैं।

३ - कोठरियों के भीतर रहने की सुविधा के ख्याल सें एक ओर पत्थर का एक तख्त जो गुफा में ही खोदा गया था, दूसरी ओर द्वार। यहाँ की छत सपाट ही बनाई गई है।

४ – मंडप के बाहर एक खम्भों पर टिका बरामदेनुमा प्रवेश भाग या अर्ध मंडप मिलता है जिसकी छत प्राय: अर्ध वृत्ताकार बनाई गई है।

५ - सामान्यत: ये एकमंजिले हैं।

संभवत: चैत्यप्रासाद के साथ संलग्न प्राचीनतम विहार कक्ष भाजा में है जिसमें पाँच प्रकोष्ठ हैं। उनमें से तीन कक्षों में मात्र एक अश्मपट्ट है जब कि एक में दो लोगों के लिए पत्थर के दो तख्त हैं। एक में जगह घेरने वाली यह वस्तु है ही नहीं। मंडप में दोनों तरफ की दीवारों से लगी ३३ फुट लम्बी दो 'आसन पीठिकाएँ' (या अभिलेखों के शब्दों में 'आसन पेढिका') हैं। कुछ ऐसा ही विहार बेदसा में भी है। अंतर कक्षों की संख्या इत्यादि में देखा जा सकता है।

अजन्ता के हीनयानी विहर भवन ८, १२ और १३ संख्या वाले हैं। बारहवाँ ३६ फुट का स्तम्भहीन चौकोर मण्डप है। सं० १२ में छत के नीचे चार खम्भे बने मिलते हैं।

कोण्डाने में भी चैत्यघर के साथ संलग्न स्तम्भयुक्त विहार हैं। ऐसे नमूने पीतलखोरा में भी प्राप्त हैं। पीतलखोरा मठ की ओबरियों या कोठरियों में सपाट छत न होकर वर्तुल छत है जिसमें पत्थर में खुदी धरनों का अलंकरण भी है।

हीनयान विहारों के लिए नासिक का लयण समूह सर्वाधिक महत्त्व का है और यहाँ एकमंजिले प्रकार के सर्वोत्तम तथा अलंकृत संघ गृह मिलते हैं। नासिक के तीन विहारों को उनके अभिलेखों के आधार पर नहपान विहार (सं० ७), गौतमीपुत्र वि० (सं० ३) तथा यज्ञश्री वि० (सं० १५) नाम दिए गए हैं। इनकी सज्जा और कलात्मक कल्पना अन्य पूर्ववर्ती विहारों से बढ़कर है। नहपान के समय बने विहार में क्षहरात वंश के छह लेख मिलते हैं। इसके बरामदे के स्तम्भों में उलटी कमल पंखुड़ियों का शीर्षक है जो कार्ला चैत्यघर के नमूनों से अधिक सुन्दर है। मण्डप का आकार १३'×४५' का है जिसमें प्रवेश के तीन सादे द्वार तथा दो वातायन हैं। गुफा में भीतर कुल १६ कोष्ठ बने हुए हैं। गौतमीपुत्र विहार आकार में ४१'×४६' का है जिसमें १८ कक्ष हैं। इसके बरामदे या बाह्य अलिंद में ६ अट्ठंसिक स्तम्भ हैं जिनके शीर्षों के रूप में वृषभ, घोड़ा, हाथी तथा शार्दूल बने हुए हैं। खम्भों पर टिका चौड़ा सिरदल है। अलिंद की अंदरूनी भित्ति में प्रवेश द्वार पर बनी शिल्प आकृतियों की तुलना साँची तारणों से की गई है।

विहार १५ के मुहार या अग्रभाग में कोई विशिष्ट उल्लेखनीय बात नहीं। यह विशाल विहारों में अंतिम है और इसका आकार अन्दर के फैलाव की वजह से बड़ा है। इसमें मिले अभिलेख के अनुसार श्रीयज्ञसातकर्णि के ७ वें वर्ष में इस बहुत दिन तक अधूरे पड़े विहार को महासेनापति की भार्या ने पूरा कराया।

कार्ला का विहार अपनी कई मंजिलों के कारण महत्त्वपूर्ण है। इसमें तीन भूमियाँ हैं जिनमें ऊपरी मंजिल में एक चार खंभों से युक्त मंडप है। बाईं ओर बने हुए पाँच कक्षों के आगे एक उठा हुआ चबूतरा है। अन्य एक विहार दुमंजिला भी है जिसका निचला तल बुरी तरह नष्ट हो चुका है।

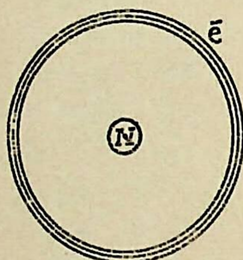
———

परमाणु ऊर्जा उद्घाटन

डॉ० नन्दलाल सिंह

अध्यक्ष—स्पेक्ट्रास्कोपी विभाग

अव तक हमें यही विदित हुआ कि सारे पदार्थ तीन मूल कणिकाओं-इलेक्ट्रान, प्रोटान और न्यूट्रान — से बनते हैं। हमें यह भी ज्ञात हो चुका है कि तत्त्वों के केन्द्र में और उसके बाहर ये कणिकायें किस विधान से संयमित रहती हैं और किन बातों से आवर्तसारिणी के भीतर तत्वों में क्रमवद्धता पाई जाती है। अव हमें परमाणु का सम्पूर्ण रूप दिखाई पड़ रहा है और इसकी रचना तर्कानुकूल सुगम्य और सौन्दर्यपूर्ण झलक रही है। यह ठीक है किन्तु अभी तक कुछ प्राथमिक प्रश्न हल नहीं हुए हैं और उन्हीं के लिए नये प्रश्न उठते हैं।



चित्र १

उदाहरण के लिए रेडियम तत्त्व को लीजिए। इसकी परमाणु संख्या ८८ और भार २२६ इकाई है। अत: इसके केन्द्र के भीतर हम ८० प्रोटान और १३८ न्यूट्रान पाते हैं और केन्द्र के बाहर ८८ इलेक्ट्रान विभिन्न पर्तों में नियमपूर्वक परिक्रमा करते रहते हैं। इस रचना के अनुसार आवर्तसारिणी परिपूर्ण हो जाती है और तत्त्वों के बहुत से रासायनिक तथा भौतिक गुणों की व्याख्या हमें मिल जाती है। किन्तु, यह ढाँचा इतना अस्थायी क्यों? रेडियम के अत्यन्त सूक्ष्म केन्द्र से अल्फाकणों का प्रवल समूह, बीटा किरण, गामा किरण और ताप किस भाँति और क्यों निकलते रहते हैं? इन कणिकाओं तथा किरणों की उत्पति कहाँ से होती है? ऊर्जा कहाँ से निकलती है?

न्यूट्रान की रचना भी ऐसी ही जटिल पहेली है। प्रोटान और न्यूट्रान दोनों का भार १ इकाई होता है। क्या इनमें कोई वास्तविक सम्वन्ध है? क्या सचमुच न्यूट्रान की रचना एक प्रोटान और एक इलेक्ट्रान के संगठन से होती है जिसके कारण यह आवेश रहित पाया जाता है? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि न्यूट्रान ही मूल कणिका हो और यह एक इकाई धनात्मक आवेश कहीं से ग्रहण कर प्रोटान वन जाता हो?

अन्तिम प्रश्न से अनुमान होता है कि सम्भवत: इकाई धनात्मक आवेश स्वतंत्र रूप में पाया जाता है। सन् १९३२ ई० तक इकाई धनात्मक आवेश केवल इकाई भार वाली कणिका के साथ ही माना गया था और इसी को प्रोटान कहा गया। अब यह भी सम्भावना होती है कि यह इकाई धनात्मक आवेश एक ऐसी कणिका पर हो सकता है जिसका भार इलेक्ट्रान के वरावर हो अर्थात् इलेक्ट्रान के वरावरी की दूसरी कणिका होना असम्भव नहीं जो विपरीत धनात्मक इकाई आवेश से आवेष्टित होती है। सच तो यह है कि सन् १९३१ ई० में ही पी० ए० एम० डिराक (P. A. M. Dirac) ने ऐसी धनात्मक कणिका का अनुमान किया था और सन् १९३२ ई० में सी० डी० एण्डर्सन ने ऐसी कणिका का अस्तित्व

प्रयोगात्मक रूप से सिद्ध भी कर दिया था। कणिका का नाम पाजीट्रान रखा गया। इसका भार इलेक्ट्रान के बराबर होता है और इन पर इकाई धनात्मक आवेश पाया जाता है। यह कणिका साधारण रूप में नहीं पाई जाती क्योंकि इसका जीवन काल क्षणिक होता है। उत्पन्न होते ही ऋणात्मक आवेश से मिलकर यह विनष्ट हो जाती है। तब सम्भव है कि प्रोटान की उत्पत्ति न्यूट्रान और पाजीट्रान के संयोग से होती हो? इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि यह प्रश्न ही स्वयं काल्पनिक है। परन्तु इससे हमें बहुत सी बातों की सूझ मिलती हैं।

समान आवेश की कणिकाओं के बीच प्रतिसारण होना चाहिए फिर धनात्मक प्रोटान केन्द्र के भीतर किस प्रकार बँधे रहते हैं? इतने सन्निकट रह कर वे स्थायी क्यों पाए जाते हैं? कागज के टुकड़े जब घर्षित अम्बर से आवेष्ठित किए जाते हैं तो वे एक दूसरे से प्रतिसारित होते हैं। आकर्षण विपरीत विद्युत आवेश में ही होता है। चुम्बकों में भी देखा गया है कि समान ध्रुवों में प्रतिसारण और विपरीत ध्रुवों के बीच आकर्षण होता है किन्तु आश्चर्य की बात है हीलियम केन्द्र में दो प्रोटान अर्थात् दो धनात्मक एकाई आवेश जट कर एक स्थायी कणिका -- अल्फाकण बनाते हैं। ऐसा ही संगठन हाइड्रोजन को छोड़कर अन्य तत्वों के केन्द्र में प्रोटानों के बीच होता है। कार्बन के केन्द्र में ६ प्रोटान हैं अर्थात् ६ स्वतंत्र धनात्मक कण केन्द्र में जुटे रहते हैं। एल्यूमीनियम में १३ धनात्मक कण और यूरेनियम में ९२ ऐसी ही धनात्मक इकाइयाँ बँधी रहती हैं। केन्द्र के भीतर इतने सूक्ष्म स्थान में प्राकृतिक नियम के अनुसार एक दूसरे को प्रतिसारित करते हुए इतने प्रोटान क्योंकर संगठित रहते हैं?

हो सकता है कि इस बन्धन का कारण न्यूट्रान हो। हीलियम के केन्द्र पर ध्यान दीजिए। यही पहला केन्द्र है जिसमें एक इकाई से अधिक धनात्मक आवेश है और दो न्यूट्रान हैं। केन्द्र रचना के सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि केन्द्र के भीतर न्यूट्रान की संख्या प्रोटानों की अपेक्षा प्रायः अधिक होती है, अथवा दोनों की संख्या बराबर होती है। प्रोटान से न्यूट्रान की संख्या कभी कम नहीं पाई जाती। तब क्या न्यूट्रान ही प्रोटानों को जुटाकर संगठित रखते हैं? यदि यही बात मान ली जाय तो यह बन्धन ऊर्जा किस प्रकार उत्पन्न होती है? इन गूढ प्रश्नों के विवेचन से पहले हम एक दूसरी बात पर विचार करेगें जो शायद यहाँ असंगत मालूम पड़े किन्तु है विचारणीय।

यदि परमाणु-रचना केवल प्रोटान, न्यूट्रान और इलेक्ट्रान से होती है तो हाइड्रोजन का भार किसी भी शुद्ध आइसोटोप के भार का ठीक अपवर्त्य होना चाहिए; अर्थात् किसी आइसोटोप के भार में यदि हाइड्रोजन परमाणु के भार से भाग दिया जाय तो पूर्ण संख्या मिलनी चाहिए। यह बात प्रारम्भ के कुछ हलके तत्वों—जैसे हीलियम, कार्बन, नाइट्रोजन आदि में पाई जाती है किन्तु ऊँची संख्या के तत्त्वों मे नहीं पाई जाती। अधिक शुद्धता से भार निकालने पर हलके तत्त्वों के भार में भी अन्तर दशमलव के बाद तीसरे चौथे अंक में पाया जाता है। हीलियम का भार ४ के स्थान पर ४.००२८ और कार्बन $_6C^{12}$ का १२.००३६ मिलता है।

याद रखना चाहिए कि इन परमाणुओं के भार का मान आक्सीजन के परमाणु भार

7

१६.००० को इकाई मानकर निकाला गया है। इससे अनुमान होता है कि यदि आक्सीजन के परमाणु भार के मान में कुछ संशोधन कर दिया जाय तो शायद सभी आइसोटोप के भार पूर्ण संख्या में पाए जाँय। दुर्भाग्यवश इस तर्क से भी मामला सुलझता नहीं; कारण यह कि कई आइसोटोपों का भार उतने मान से कम पाया जाता है जितना उसके भार का मान कणिकाओं के भार के जोड़ के बराबर होना चाहिए। किसी भी तरह से हिसाब लगाने पर परमाणु भार पूर्ण संख्या में नहीं मिल सके। इन बातों की उलझन में एक बड़े महत्व की बात सूझ पड़ी। अनेक बार उच्च कोटि के यथार्थ मापन से आक्सीजन के भार को १६.०००० मान कर प्रोटान का भार १.००७५८ पाया गया और न्यूट्रान का भार १.००८९३। हीलियम का संकेत $_2He^4$ होता है और इसमें २ प्रोटान और २ न्यूट्रान होते हैं। अतः

२ प्रोटान भार = २.१५१६ इकाई

और २ न्यूट्रान भार = २.०१७८६ इकाई

और दोनों का जोड़ = ४.०३३०२ इकाई होता है,

किन्तु $_2He^4$ का भार = ४.००२८० इकाई होता है।

इनके भार में अन्तर .०३०२२ पाया जाता है।

अर्थात् $_2He^4$ का भार उसके अवयवों के भार से कम होता है। किसी भी कारण हम इस अन्तर की अवहेलना नहीं कर सकते। यह नगण्य भी नहीं है इसलिए हीलियम परमाणु की रचना में ०.०३०२२ इकाई भार की कमी का कारण मालूम करना आवश्यक हुआ।

हम यह नहीं मान सकते कि द्रव्य इतनी मात्रा में लुप्त हो गया है क्योंकि ऐसा मानने पर द्रव्य और ऊर्जा की अविनाशिता सिद्धान्त की उपेक्षा होती है। हर एक भौतिक तथा रासायनिक क्रिया में द्रव्य तथा ऊर्जा की मात्रा क्रिया के पूर्व तथा उपरान्त बराबर होनी चाहिए। फिर द्रव्य का हुआ क्या? इस प्रश्न का उत्तर प्रो० आइन्सटाइन अपने आपेक्षवाद सिद्धान्त के सिलसिले में सन् १९०५ ई० में ही सोच चुके थे। उन्होंने बताया था कि द्रव्य और ऊर्जा एक दूसरे में परिवर्तनीय हैं। ब्रह्माण्ड में इन दोनों के बीच एकरसता पाई जाती है। उन्होने एक सूत्र बताया जिसके अनुसार ऊर्जा और द्रव्य मात्रा में सामंजस्य पाया जाता है। ऊर्जा द्रव्य मात्रा का समानुपाती होती है।

ऊर्जा का मापन अर्ग, कैलोरी अथवा किलोवाट-घंटा आदि इकाईयों में किया जाता है। द्रव्य-मान की इकाई ग्राम अथवा पाउण्ड होती हैं जो ऊर्जा की इकाईयों से भिन्न होती है। द्रव्य मान को समतुल्य ऊर्जा में परिवर्तित करने के लिए मात्रा की इकाई को ऊर्जा की इकाई में बदलना होता है। यही क्रिया द्रव्य-मान की एक इकाई से दूसरे में बदलने के लिए भी करनी पड़ती है। यदि द्रव्य-मान किलोग्राम में हो तो पाउण्ड में बदलने के लिए हमें २·२ से गुणा करना पड़ता है अर्थात् १ किलोग्राम २·२ पाउण्ड के बराबर होता है। यदि लम्बाई इंच में दी हुई हो तो उसे सेंटीमीटर में बदलने के लिए हमें २·५४ से गुणा करना पड़ता है क्योंकि १" = २·५४ सेंटीमीटर होता है। प्रो० आइन्सटाइन ने बताया कि ग्राम में दी हुई द्रव्य मात्रा को समतुल्य ऊर्जा का मान अर्ग में निकालने के लिए

समतुलक स्थिरांक अर्थात् परिवर्तक गुणक का मान प्रकाश के वेग के वर्ग के बराबर होता है जबकि प्रकाश का वेग सेंटीमीटर प्रति सेकेंड में दिया गया हो। प्रकाश के वेग का संकेत प्राय: C रखा जाता है और इसका मान ३०,०००,०००,००० सेंटीमीटर प्रति सेकेंड होता है जो १८६००० मील प्रति सेकेंड के बराबर होता है। परिवर्तक गुणक C^2 होने से आइन्सटाइन का सूत्र $E = mC^2$ हो जाता है। यह सूत्र विज्ञान के इतिहास में बेजोड़ है। अब तक दूसरा कोई सूत्र इतने महत्व का नहीं पाया गया है।

सन् १९०५ ई० में प्रो० आइन्स्टाइन इस सूत्र की परीक्षा के लिए आकुल थे और बतलाए थे कि इसका उपयोग रेडियमधर्मिता की महान् शक्ति विघटन की क्रियाओं में किया जा सकता है। रेडियमधर्मिता की खोज कुछ दिन पहले हो चुकी थी। उसके बाद ही जे० डी० काक्राफ्ट और ई० टी० एस० विलसन ने इस सूत्र का उपयोग रेडियम से निकलते हुए आल्फाकणों पर किया था। किन्तु स्वयं प्रो० आइन्स्टाइन अपने इस सूत्र के भीषण रूप का अनुमान नहीं कर पाए थे। सूत्र की परीक्षा ४५ वर्ष बाद हिरोशिमा, नागासाकी और बिकनी के विस्फोटों से हुई।

हीलियम परमाणु की गढ़न में ०·०३०२२ इकाई भार की कमी पाई जाती है। यदि इस द्रव्य मात्रा के समतुल्य ऊर्जा का मान निकाला जाय तो फल देखकर हमें चकित हो जाना पड़ता है। इस परमाणु की रचना में भार के हिसाब से ४०० भाग में ३ भाग की क्षति होती है, अर्थात् ३।४ प्रतिशत द्रव्य मात्रा लुप्त होती है। एक ग्राम में ·००७५ ग्राम की कमी आती है। इसको C^2 से गुणा करने पर समतुल्यऊर्जा का मान

$$= \cdot००७५ \times ३ \times १०^{१०} \times ३ \times १०^{१०} \text{ अर्ग}$$
$$= \cdot०६७५ \times १०^{२०} \text{ अर्ग}$$
$$= ६७५ \times १०^{१६} \text{ अर्ग होता है।}$$

इतनी ऊर्जा २००००० किलोवाट घंटों के बराबर होती है जिससे १०० वाट की २००००० बत्तियाँ १० घंटे जलती है। इतनी अधिक ऊर्जा तनिक द्रव्य मात्रा के लोप होने से निकली। इतनी द्रव्य मात्रा की क्षति $\frac{१}{२}$ ग्राम न्यूट्रान और $\frac{१}{२}$ ग्राम प्रोट्रान के संगठन से हीलियम तैयार करने में पाई गई।

द्रव्य मात्रा ऊर्जा में परिवर्तित होती है।

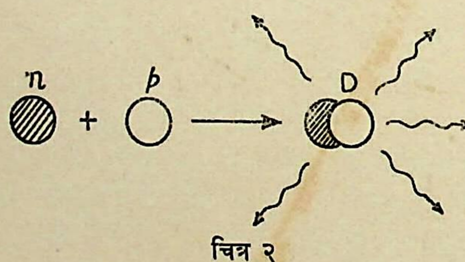
हीलियम परमाणु की रचना प्रोटान और न्यूट्रान के संगठन से होती है और इस क्रिया में $\frac{३}{४}$ प्रतिशत द्रव्य की मात्रा ऊर्जा में परिवर्तित होती है। यह ऊर्जा जाती कहाँ है ? समझने के लिए पहाड़ की चोटी पर अटकी हुई एक शिला पर ध्यान दीजिए। वहाँ उसकी स्थितिज ऊर्जा (potential energy) अधिक है। रोक हटाते ही वह लुढ़क कर नीचे गिरती है। उसकी स्थितिज ऊर्जा घट जाती है, किन्तु शिला नीचे आकर अधिक स्थिरता प्राप्त कर लेती है। खाड़ी में पहुँच कर अब और नीचे नहीं जा सकती।

भौतिक जगत् का यही नियम है कि जब किसी पिंड से ऊर्जा निकलती है तो ऊर्जा क्षीण होने के बाद पिंड की स्थिरता बढ़ जाती है। मकान की छत से गिरते हुए गोले

की स्थितिज ऊर्जा घटती है। वह स्थितिज शक्ति ऊर्जा में परिवर्तित होती है। नीचे फर्श पर पहुँचकर गोले की स्थिरता (Stability) बढ़ जाती है। पहाड़ से निकला हुआ झरना मार्ग में अपनी स्थितिज ऊर्जा खोता हुआ समुद्र में गिरता है। पानी की स्थितिज ऊर्जा गतिज में बदलती जाती है। मार्ग में इस गतिज ऊर्जा द्वारा पनचक्कियाँ चलाई जाती हैं। डायनमों के चक्के को घुमाकर विजली उत्पन्न की जाती है। पानी समुद्र में पहुँचकर स्थिरता प्राप्त कर लेता है। स्थितिज ऊर्जा खोकर जल पहाड़ की चोटी की अपेक्षा समुद्र में अधिक स्थिरता प्राप्त करता है।

यही नियम रासायनिक परिवर्तनों में भी होता है। जब रासानिक क्रिया में ऊर्जा का निकास होता है तो अधिक स्थायी यौगिक बनता है। कार्बन और हाइड्रोजन के बीच संयोजन ऊर्जा कार्बन और आक्सीजन की अपेक्षा अधिक होती है। गैसोलीन, लकड़ी, और टी-एन-टी (T.N.T.) में कार्बन-हाइड्रोजन के अनेकों बन्ध (bonds) होते हैं। अतः वे बहुत अस्थायी होते हैं। वे तुरन्त आग लगने से जल उठते हैं और ऊर्जा का विस्फोट होता है। जलने पर उनके C—H बन्ध टूट जाते हैं और नये C—O बन्ध बनते हैं। ऊर्जा घट जाती है। नया यौगिक कार्बन-डाइआक्साइड बहुत स्थायी होता है। जब आक्सीजन जलता है तो O – O बन्ध टूट कर O—H बन्ध बनता है और ऊर्जा की विकीर्णता के साथ स्थायी यौगिक H_2O मिलता है।

ठीक इसी प्रकार हीलियम के स्थायी न्यूक्लियस की रचना प्रोटान और न्यूट्रान के संगठन से ऊर्जा खोकर होती है। हीलियम का केन्द्र न्यूट्रान अथवा प्रोटान से अधिक स्थायी होता है। न्यूट्रान बड़ी शीघ्रता से अन्य तत्वों के साथ जुट जाता है किन्तु हीलियम न्यूक्लियस जो अल्फा-कण ही हैं किसी अन्य तत्व से नहीं जुटते। अन्य किसी तत्व के न्यूक्लियस से बिना बँधे हुए स्वतंत्र रूप से इधर-उधर भटकते रहते हैं। अनेकों धक्के खाते हुए भी विभाजित नहीं होते। एक न्यूट्रान और एक प्रोटान के संगठन से स्थायी ड्यूट्रान बनता है। (चित्र २) ड्यूट्रान का भार न्यूट्रान और प्रोटान के भार के जोड़ से कम होता है।

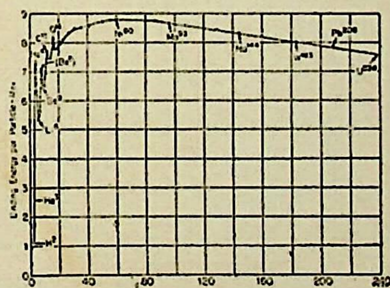


चित्र २

स्थायी स्थिति का अनुमान उतनी ऊर्जा से लगाया जाता है जितनी ऊर्जा लगाकर वस्तु की स्थिति बदली जा सकती हो। शिला को खाई से उठाकर पहाड़ की चोटी पर ले जाने में अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है। अतः शिला चोटी की अपेक्षा खाईं में अधिक स्थायी स्थिति में है। हीलियम न्यूक्लियस को प्रोटान और न्यूट्रानों में विघटित करने के लिए उतनी ही महान् ऊर्जा (६७५×१०^{१६} अर्ग) की आवश्यकता पड़ती है जो इनके संगठित होते समय द्रव्य मान के लोप से निकली है। इतनी ऊर्जा को केन्द्र में केन्द्रीभूत करना सहज नहीं। इसीलिए हीलियम परमाणु अथवा अल्फाकण इतने स्थायी पाए जाते हैं। आगे चलकर हम इनसे भी अधिक स्थायी न्यूक्लियस और परमाणुओं की जानकारी प्राप्त करेंगे।

जितने द्रव्य-मान का लोप किसी न्यूक्लियस की रचना में संगठित प्रोटान और न्यूट्रान के संयुक्त तौल के हिसाब से होता है उसे संवीत-क्षति (Packing loss) कहते हैं। मतलब यह है कि न्यूक्लियस के भीतर संगठित अवस्था में प्रोटान और न्यूट्रान स्वतंत्र दशा की अपेक्षा संकलित हो जाते हैं। प्रति इकाई परमाणु तौल की अपेक्षा हरएक तत्व में संवीत-गुणक का मान न्यूक्लियस के भीतर न्यूक्लियस की संख्या से संवीत-क्षति में भाग देकर मालूम किया जाता है। इसे "संवीत-गुणक" कहते हैं। स्पष्ट हो जाता है कि किसी तत्व का संवीत-गुणक जितना ही अधिक होगा उतनी ही अधिक ऊर्जा न्यूक्लियानों के संगठन में निकलेगी और उतना ही उस तत्व का न्यूक्लियस अधिक स्थायी होगा। साथ ही यह भी विदित हो जाता है कि प्रोटान और न्यूट्रान की संगठित ऊर्जा थोड़ी द्रव्य-मान के लोप से पाई जाती है और उसी मात्रा के समतुल्य ऊर्जा न्यूक्लियस रचना में निकलती है। यही ऊर्जा न्यूक्लियस रचना में प्रोटान और न्यूट्रान के बीच बन्धन ऊर्जा (binding energy) प्रदान करती है।

प्रो० ऐस्टन ने भार स्पेक्ट्रोमीटर द्वारा विभिन्न आइसोटोपों का आपेक्षिक भार निकाल कर तत्वों का संवीत-गुणक मालूम किया। उन्होंने देखा कि संवीत-गुणक का मान विभिन्न तत्वों के लिए भिन्न पाया जाता है। तत्वों के गुणों में अनेक सामंजस्य होते हैं। तो क्या उनके संवीत-गुणकों में भी कोई नियमित समानता है? सर्व प्रथम प्रो० ऐस्टन को ऐसा साधारण सामंजस्य दिखाई पड़ा और वह सर्व साधारण के लिए बहुत ही सारगर्भित सिद्ध हुआ। वास्तव में परमाणु ऊर्जा विघटन की कुंजी इसी रीति से हाथ लगी।



चित्र ३

चित्र ३ में तत्वों के संवीत-गुणक का मान दिखाया गया है। हाइड्रोजन के लिए संवीत अंक शून्य होता है क्योंकि इसमें एक ही प्रोटान है। किसी अन्य तत्व के परमाणु भार में से संकलित प्रोटान और न्यूट्रान के संयुक्त भार को घटाकर संवीत-क्षति मालूम की जाती है। फिर संवीत-क्षति को न्यूक्लियानों की संख्या से भाग देकर संवीत-गुणक निकाला जाता है। उदाहरणः— क्रिप्टान की परमाणु संख्या ७८ है। इसके केन्द्र में ३६ प्रोटान और ४२ न्यूट्रान होते हैं।

अतः	३६ × १·००७८	=	३६·२७३६
	४२ × १·००८९	=	४२·३७३८
इनके भार का जोड़		=	७८·६४७४ होता है।
क्रिप्टान का परमाणु भार		=	७७·९२६२ होता है।
अतः संवीत क्षति		=	·७२१२ पाई जाती है
और संवीत गुणक हाइड्रोजन की अपेक्षा		=	०·००९१ मिलता है।

अर्थात् १०००० में ९१ होता है। यह क्रिप्टान के प्रत्येक प्रोटान और न्यूट्रान के लिए

पाया जाता है। अतः इसका न्यूक्लियस अवश्य स्थायी होगा। चित्र ३ को देखने से विदित होता है कि परमाणु संख्या तथा संवीत-गुणक का लेखाचित्र एक वक्र रेखा पाई जाती है। इससे ज्ञात होता है कि संवीत गुणक हाइड्रोजन के लिए शून्य मान से बढ़ता हुआ लोहा और निकल के लिए सबसे अधिक होकर यूरेनियम के लिए फिर कम हो जाता है। आवर्तसारिणी के हल्के तत्व तथा भारी तत्वों के लिए संवीत-गुणक न्यूनतम होते हैं। लोहे के लिए सबसे अधिक पाया जाता है। इसी कारण लोहे का परमाणु अधिक स्थायी और हल्के तथा भारी तत्वों के परमाणु कम स्थायी पाए जाते हैं।

चित्र सं० ३ पर तनिक फिर ध्यान दीजिए। मान लीजिए कि तत्त्वों के न्यूक्लियस में न्यूट्रान प्रोटान की संख्या घटा-बढ़ाकर उन्हें एक दूसरे में परिवर्तित करना सम्भव हो तो आवर्तसारिणी के एक सिरे के तत्व को लेकर यदि उसे मध्यवर्ती तत्व में बदला जाय तो ऊर्जा का निकलना निश्चित है क्योंकि हम अपेक्षाकृत अस्थायी तत्व से स्थायी तत्व बनाते हैं। यदि हम हाइड्रोजन से प्रारम्भ करते हैं तो छोटे परमाणु को जुटाकर भारी परमाणु बनाते हैं और यदि हम यूरेनियम परमाणु लेकर क्रिया प्रारम्भ करते हैं तो बड़े परमाणु को खण्डित कर छोटे परमाणु बनाते हैं। दोनों रीतियों से नये परमाणु का भार प्रारम्भिक अवयवो के भार से कम होता है। द्रव्य की मात्रा में क्षति होती है जो ऊर्जा में बदल जाती है। हमने देखा है कि तनिक द्रव्य-मान के विनष्ट होने से कितनी अपार ऊर्जा उपार्जित होती है। अतः दोनों विधियों द्वारा तत्व रचना से हमें महान ऊर्जा मिल सकती है।

प्रकृति में दोनों रीतियों की प्रक्रिया होती है। इनमें पहली रीति के अनुसार सूर्य और तारा-नक्षत्रों में अपार ऊर्जा पाई जाती है। इसका पूर्ण विवरण आगे चलकर हाइड्रोजन बम के सम्बन्ध में दिया जाएगा। दूसरी विधि के अनुसार किसी भारी तत्व में परिवर्तित कर अपार ऊर्जा पृथ्वी के ऊपर उपलब्ध हुई है। प्रकृति में अनन्त काल से रेडियोधर्मिता की क्रिया चलती आ रही है। रेडियम के विघटन से हीलियम और रेडान निकलते हैं। रेडियम का परमाणु भार २२६ और हीलियम तथा रेडान का भार क्रमानुसार ४ और २२२ होता है। रेडियम का अस्थायी बड़ा न्यूक्लियस हीलियम और रेडान के छोटे न्यूक्लियस में बदल जाता है। संवीत-गुणक का मान अधिक होता है; अतः द्रव्य मात्रा में कमी आ जाती है। यही द्रव्य मात्रा विनष्ट होकर ऊर्जा में प्रकट होती है।

रेडियम के अतिरिक्त कई तत्त्वों में प्राकृतिक रेडियम धर्मिता कुछ कम परिमाण में पाई जाती है। इसकी क्रिया-विधि ठीक रेडियम के समान ही होती है। प्रक्रिया में छोटे न्यूक्लियसों की रचना होती है और संवीत-गुणक के मान के अनुसार ऊर्जा विकीर्ण होती है।

प्राकृतिक रेडियमधर्मिता स्वतः होती रहती है। रेडियम, यूरेनियम, थोरियम और ऐक्टीनियम के विघटन से अल्फा तथा बीटा के कण और गामा की रश्मियाँ सदा निकलती रहती है। इनकी क्रिया-विधि में मानवी प्रयोगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सन् १९३९ ई० में हमें ऊर्जा-विकास की कृत्रिम-विधि का ज्ञान हुआ है। इसमें भी संवीत-गुणक के मान का उपयोग पूर्ववत् किया जाता है। नये न्यूक्लियसों के भार का योग यूरेनियम के

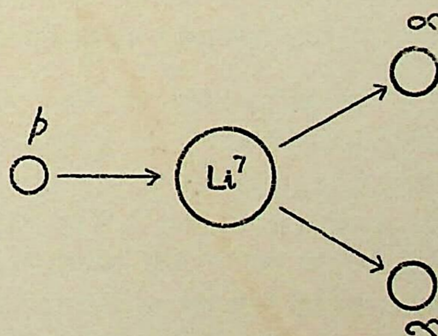
न्यूक्लियस के भार से बहुत कम होता है। इसी द्रव्य मात्रा के विनाश से अतुलित ऊर्जा मिलती है। यही परमाणु बम की कुंजी है। यह क्रिया इच्छानुसार की जा सकती है और तत्व परिवर्तन के साथ ही महान् ऊर्जा उपार्जित होती है।

केन्द्र का विघटन : परमाणु के टूटने से ऊर्जा का उद्भवन

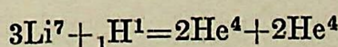
यहाँ पर यह बात स्पष्ट करना उचित होगा कि वैज्ञानिक इन सब अनुसंधानों म परमाणु से ऊर्जा निकालने में तथा परमाणु बम बनाने के चक्कर में नहीं पड़े थे। वे पदार्थ रचना के रहस्य को समझने की चेष्टा करते रहे। नन्हे से केन्द्र के भीतर प्रोटान और न्यूट्रान की व्यवस्था क्या है? प्रोटानों के बीच तो प्रतिसरण होना चाहिए फिर वे इतने सूक्ष्म स्थान के भीतर कैसे जुटे रहते हैं? वैज्ञानिक इस उधेड़ बुन में पड़े थे कि न्यूट्रान क्या है और केन्द्र के भीतर उसका उसका व्यापार किस प्रकार होता है?

साथ ही यह भी स्वाभाविक था कि वे परमाणु ऊर्जा विघटन तथा उसके उपयोग की भी कल्पना किया करते थे। उनमें कुछ लोगों ने सामान्य समाचार पत्रों में सरल लेख भी प्रकाशित किए थे अथवा उनकी आपसी बातें सुनकर संवाददाताओं ने परमाणु ऊर्जा द्वारा भावी क्रान्ति की कौतूहल पूर्ण आशाएँ भी छाप दी थीं। तथापि उनका ध्येय द्रव्य और ऊर्जा का सम्बन्ध तथा उनकी रूपरेखा समझना ही था और उनके प्रयोग इसी उद्देश्य से हो रहे थे। अधिक मात्रा में तत्वों को लेकर उनके तिलस्मों के भेदन के लिए अल्फाकण का, प्रोटान का और ड्यूटरान का उपयोग बतौर विभिन्न ऊर्जा की गोलियों के समान कर रहे थे।

इन प्रयोगों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि तीन प्रमुख बातों का पता सन् १९३२ ई० तक लगा था। पहली जानकारी काक्राफ्ट और वाल्टन (Cockrot and Walton) के प्रयोग से कैवेंडिश प्रयोगशाल में प्राप्त हुई। उन्होंने देखा कि जब लीथियम धातु पर प्रोटान का आघात मन्द वेग से होता है तो उसमें से अल्फाकण तीव्र वेग के साथ निकलते हैं। उन्होंने यह भी निरीक्षण किया कि प्रति प्रोटान द्वारा २ अल्फाकण निकलते हैं। परिवर्तन बहुत ही सरल तरीके से होता है। इसकी क्रिया चित्र ४ में दिखाई गई है। प्रोटान हाइड्रोजन परमाणु केन्द्र ${}_1H^1$ होता है और लीथियम ${}_1L_i{}^7$ के न्यूक्लियस में ३ प्रोटान और चार न्यूट्रान होते हैं। परिवर्तन निम्न रूप से होता है:—



चित्र ४



$$3Li^7 + {}_1H^1 = 2He^4 + 2He^4$$

समीकरण में मूर्धांकों (superscripts) का जोड़ ७+१=४+४ होता है और पादांकों (subscripts) का जोड़ ३+१=२+२ पाया जाता है। ऐसा मालूम पड़ता

है कि पहले लीथियम न्यूक्लियस एक प्रोटान ग्रहण करता है और क्षण भर के लिए उनमें ४ प्रोटान और ४ न्यूट्रान हो जाते हैं। न्यूक्लियस भार ८ हो जाता है और आवेश का मान ४ हो जाता है। यह बहुत ही अस्थायी न्यूक्लियस होता है जिसके कारण वह तुरन्त टूटकर दो हीलियम न्यूक्लियसों में विभाजित हो जाता है। दोनों खण्ड बड़े वेग से विलग होते हैं जिससे मालूम होता है कि विभाजन के समय काफी ऊर्जा निकलती है। विकीर्ण ऊर्जा का मान दो रीतियों से निकाला जा सकता है।

एक रीति के अनुसार आघाती प्रोटान की ऊर्जा मालूम कर देखा जाता है कि टकराने पर नवनिर्मित २ अल्फाकणों में क्या ऊर्जा है। प्रोटान तथा कणों की ऊर्जा का पता उनके वेग तथा उनके भार के मान से सरल नियमों द्वारा लगाया जा सकता है। प्रोटान तथा अल्फाकणों के वेग के अन्तर से ज्ञात होता है कि दो अल्फा कणों के निर्माण काल में महान् ऊर्जा निकलती है। प्रति आघात से २ अल्फाकण २७०२×१०^{-६} अर्ग ऊर्जा के साथ प्रति लीथियम परमाणु से निकलते हैं और उनमें २७.२×१०^{-६} अर्ग ऊर्जा पाई जाती है।

दूसरी रीति के अनुसार संवीत-गुणक के अन्तर से द्रव्य मात्रा की क्षति का पता लगाया जाता है। लीथियम केन्द्र का भार ७.०१६५ होता है और प्रोटान का भार १.००७८ होता है। दोनों का भार ८.०२४१ होता है। एक अल्फाकण का भार ४·००२८ और दो का ८.००५६ होता है; अर्थात् लीथियम तथा हाइड्रोजन के संयोजन से २ हीलियम न्यूक्लियस की रचना होती है और भार में कमी ०.०१८५ इकाई पाई जाती है। प्रो० आइंस्टाइन के सूत्र द्वारा २७.६३×१०^{-६} अर्ग ऊर्जा का उद्भवन प्रत्येक लीथियम परमाणु से होता है।

दोनों रीतियों से कलन करने पर विकसित ऊर्जा का मान एक ही पाया जाता है। वास्तव में, यही आइन्स्टाइन के सूत्र को प्रमाणित करता है।

इस लीथियम-प्रोटान की प्रक्रिया में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है। लीथियम-प्रोटान के संयोग से दो बराबर भार के हीलियम न्यूक्लियस बनते हैं। जन्तु विज्ञान में भी ऐसी ही स्वतः क्रिया होती है। जिसमें एक सेल (cell) विभाजित होकर दो सेल बनते हैं। इस क्रिया को विखण्डन (fission) कहते हैं। इसी भाँति एक केन्द्र से दो केन्द्रों की रचना को केन्द्र विखण्डन (nuclear fission) कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग पहले नहीं किया जाता था। इसका उपयोग सन् १९३९ ई० से होने लगा जब यूरेनियम के न्यूक्रियस को दो भागों में विभाजित किया जा सका।

बड़े महत्त्व की बात तो यह है कि प्रोटान के आघात से जब लीथियम न्यूक्लियस का विखण्डन दो हीलियम न्यूक्लियस में होता है तो एक बड़ी मात्रा में ऊर्जा का उद्गार होता है। यह प्रक्रिया मनुष्य ने खोज निकाली है और यह कहना असंगत नहीं कि परमाणु ऊर्जा का उपयोग मनुष्य इच्छानुसार निकाल सकता है किन्तु इसकी प्रक्रिया अबतक उतनी फलप्रद नहीं सिद्ध हुई।

यह विचारने की बात है कि परमाणु की अपेक्षा केन्द्र कितना छोटा होता है। केन्द्र का व्यास परमाणु के व्यास का $\frac{१}{१०००००}$ होता है। प्रस्थच्छेद में अनुपात $\frac{१}{१०००००००००}$ होगा क्योंकि प्रस्थच्छेद व्यास के वर्ग का समानुपाती होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लीथियम के एक ही परमाणु पर एक प्रोटान के आघात का १०,००००००० में एक बार की सम्भावना पाई जाती है। आगे चलकर हम देखेंगें कि यूरेनियम न्यूक्लियस पर न्यूट्रान के आघात से किस प्रकार न्यूक्लियस विखंडित होता है ऊर्जा के साथ नये न्यूट्रान निकलते हैं और इसी प्रक्रिया की श्रृंखला से अपार ऊर्जा विकीर्ण होती है।

———

KASHI HINDU VISHWAVIDYALAYA : THE MEMORIAL OF THE MAHAMANA

KRIPA NARAIN MISRA
Deptt. of English

There can be no monument more mighty and magnificent, living and lively, lasting and lustrous, vivid and variegated, to the fame of the immortal Mahamana in the eyes of posterity, than the Kashi Hindu Vishwavidyalaya, the national temple of inter-national learning, standing on the bank of the holy Ganges in the *Upanishadic* city of varanasi regarded for millennia as the *Sanctum Sanctorum* of the Hindus—the famous seat of learning and culture ,and the favourite Anand Kānana of lord Shiva bestowing shelter and salvation upon one and all.

The Kashi Hindu Vishwavidyalaya with its temples and towers, laboratiories and libraries, halls and hostels, teachers and the taught, stands as a living embodiment of the golden dreams of the Mahamana, his lifelong tyāga and tapasyā, his aspirations and ambitions. It was his ambitious plan to found such a University as might combine, conserve and communicate the spirit and culture of the Nalandā and the Taxilā together with the Scientific and technological climate of the Cambridge and the Oxford. He wished to see a harmonious and healthy blending of the best in the East with the best in the West. His was the noble ambition for erecting such a vishwavidyalaya as might bridge the yawning chasms between the old and the new, the ideal and the real by adapting and adjusting the eastern philosophy and religion to the western science and technology, reconciling the vital points of the European civilization with the fundamentals of the Hindu view of life.

The Mahamana was the outcome of the age that saw Indian Society gradually rising from the slumber of slavery, emerging through the slough of social backwardness and political domination. By the nineties of the 18th century, Indian

society seemed to be spiritually dead. On account of constant political slavery, suppressions and persecutions, the Hindu society was utterly disorganised and entirely disintegrated[1]. This ancient land of spirutual illumination seemed to have lost its lustre and life. The Indian society had forgotten and was forgetting, day by day, the glorious heritage of its ancient culture, 'the living words that had issued from the illuminated consciousness of her great ones[2]. There was a mania for English manners and customs. All that was English or European was taken to be good and grand, and even the best and the most vital in our culture, life and literature was branded as orthodox, primitive, dogmatic and out-dated. The educational institutious were creating young men and women who lived in India and loved England, who were the blind imitators of the British ways of life, and the cruel critics of the values of their own life and literature. This was really the most deplorable stage of cultural history when our own men and women were being recruited as fanatic critics of our own values and standard. It was in such a critical period of our cultural history that the Mahamana Malaviyaji was born.

It is an admitted fact that history creates its makers and in turn is created by them. This land of Rāma and Krishna, Vyās and Vālmīki, of Ashoka and Buddha, has always created superior men and women in various walks of life—men and women who have guided the destiny of our own people at home and like Buddha and Vivekānanda, have played the role of spiritual torch-bearers for the benefit of the humanity at large. This fertility of our motherland has never exhausted. The latter half of the nineteenth century brought a glorious galaxy of such intellectual and spiritual giants on the socio-political scene of our country as Maharshi Dayānand, Sri Rāma Krishna Paramahamsa, Swami Vivekānanda, Sri Gokhale, Sri Bālgangādhar Tilak, Rabindra Nath Tagore, Mahatma Gāndhi, Dr. Rajendra Prasad and Pt. Jawaharlal Nehru to name only a

1 The first Prospectus of the University, of 1904.

2 Rabindra Nath Tagore, quoted by Pt. Nehru in the Epilogue to (*The*) (*Discovery of India*).

few of those innumerable men and women who heralded and championed the cause of social progress and political liberation. Mahamana Pt. Madan Mohan Malaviya was a very prominent figure of this team of the harbingers of freedom and the builders of new India.

The Mahamana was nourished and nurtured in Samskrit lore and learning, and, by his dress and address, was fully capable of giving a new orientation ,a new social and cultural consciousness to the youngmen and women of the new India that was going to come after the dawn of freedom. The Kashi Hindu Vishwavidyalaya was founded with the definite objective of bringing a cultural and social renaissance in our country ; bringing a new sense of pride and patriotism ; a sense of the recognition of our own values of life, our own standards of human life duly adjusted to the needs of the Nuclear Age. This temple of Saraswati was named the *Banaras Hindu University* not because it was going to be an institution of the Hindus, by the Hindus, and for the Hindus but because it was starting with the definite objective of blending and reconciling the values of different castes and creeds, languages and literatures, shastras and sciences in order to pave the ways for the success and fulfilment of the long-cherished ideals of वसुधैव कुटुम्बकम्—the ideals of mutual understanding, co-existence and international co-operation. There was nothing narrow and sectarian about it. To think so is to do injustice to the ideals of the Mahamana who fathered this institution to foster and forward the ideals of democracy and internationalism. It was the Mahamana himself who declared that the object of this Vishwavidyalaya was :—

(1) to promote the studies of the Hindu Shastras and of Sanskrit literature generally as a means of preserving and popularizing, for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India.

(2) to promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches.

(3) to advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country ; and

(4) to promote the building up of character in youth by relegion and ethics as an integral part of education.

The above-mentioned objectives of the University make it quite clear that the foundation of this Vishwavidyalaya was an historic event in the cultural and educational history of our country. This eminent edifice of education was erected and established with the intention of manufacturing men and women of dynamic personalities capable of preserving and propagating those habits of thought and conduct which alone could be the lasting foundation of a true democracy, creating the men and women of truth and integrity, physical discipline and mental enlightenment. The Mahamana used to recite the following verses which have now been printed on the identity-cards of the students of this university :

न त्वहं कामय राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

× × ×

सत्येन ब्रह्मचयण व्यायामेनाथ विद्यया ।
देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव ॥

The entire academic atmosphere of the Banaras Hindu Universiry is permeated by this Malaviya spirit—the spirit of tolerance and mutual understnading, of catholicity and broad-mindedness. It has been said that the morality inculcated by the sages and seers of India comprehends all the virutes which are necessary for the happy existence and harmonious co-operation of the mankind at large. It has been the glorious tradition of this University that the students and teachers belonging to different castes and colours, customs and creeds have always lived and are living even to-day like the members

of a family with the spirit of tolerance and accommodation, viewing things as others view them, overcoming differences by understanding and reason. The spirit of the Mahamana pervades the entire campus of the University. During the last fifty years, the University has progressed by leaps and bounds, and has been recognised as an institution of international repute. The contributions of its teachers and the taught to the cause of political freedom will always be remembrered with glory and gratitude. Its founder himself was one of the fathers of Indian Nationalism. Ever since the dawn of Independence, the university has been manufacturing men and women to man the various professions of the government and the public.

Thus, the Kashi Hindu Vishwavidyalaya stands as the mighty monument to the revered memory of the Mahamana fostering and forwarding the noble ideals of nationlism and mutual understanding in the interests of our democratic republic. It is an institution which fulfils and concretizes the noble dreams of a seer who intended to erect an educational edifice where people of different castes and cultures might live in harmony and happiness without the slightest trace of bigotry, fanaticism and intolerance. It is the living symbol of our national ideals of secularism and democratic socialism.

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

(ऐतिहासिक संस्मरणात्मक लेख)

हीरावल्लभ शास्त्री
संस्कृत महाविद्यालय

सरस्वती का मूर्तस्वरूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय इस वर्ष अपने ५० वर्ष की पूर्त्ति में विक्रम संवत् २०२२, माघ शुक्ल वन्सत पञ्चमी के (२६।१।६५) दो दिन पूर्व ही शत-चण्डी, वेद, पुराण, रामायणादि पारायणादि धार्मिक कृत्यों से आरम्भ कर माघपूर्णिमा (ता० ५।२।६६) तक के पुण्य तिथियों में अपनी स्वर्ण जयन्ती बड़े हर्षोल्लास व महासमारोह के साथ मना रहा है। विद्यातीर्थ महेश्वर की ज्ञानभूमि के अन्दर पुण्य सलिला उत्तर वाहिनी जगद्वन्द्या भगवती भागीरथी के पश्चिम तट पर विराजमान विविध विद्या की विशाल नगरी-रूप इस विश्वविद्यालय के साथ हमारा अध्ययनाध्यापनादि सम्बन्ध ४५ वर्ष से भी अधिक समय से चला आ रहा है। इतनी लम्बी अवधि के बीच हमें जो उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं उनका ऐतिहासिक स्मरण सबकी जानकारी के लिए यहाँ प्रदर्शित किया जाता है। इस विश्व-विद्यालय के ऐतिहासिक जीवन के परिशीलन से यह कहने में बड़ा गर्व होता है कि 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' एक सर्वोच्च राष्ट्रीय विश्वविद्यालय है।

हमारे सामने इस विश्वविद्यालय ने अपनी शैशवावस्था से लेकर आज पचासवें स्वर्ण वर्ष की पूर्त्ति के अवधि तक अनेकों चढ़ाव उतार की परिस्थितियों को पार किया। एक समय था जब इसका सम्पूर्ण वार्षिक वजट ६ लाख रुपयों तक ही सीमित था। उस पर भी ज्यादा से ज्यादा ३ लाख का वार्षिक अनुदान प्राप्त करना तत्कालीन भारत के भाग्य विधाता गौराङ्ग महाप्रभुओं की कृपा पर निर्भर था। इस थोड़ी सी निश्चित आय से हाथी के मुँह में जीरा के समान इस विशालकाय विश्वविद्यालय की शेष आवश्यकताओं की पूर्त्ति इसके जनक, भारत जननी के सपूत, महामना मालवीय जी की अथक भिक्षावृत्ति से होती थी। सन् ३० के पहले एक बार महामना जी ने ग्रीष्मावकाश के मई, जून दो मास के अन्दर बम्बई में ८ लाख से भी अधिक चन्दा इकट्ठा किया था। केवल दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण ही इस विश्वविद्यालय का जीवन अनेक बार संकट ग्रस्त नहीं हुआ, बल्कि अनेक बार तो उससे भी अस्थिर जीवन दशा राजनीतिक हलचलों से आई।

सन् २१ में महात्मागान्धी जी की अभूतपूर्व असहयोगात्मक राजनीतिक आन्धी ने तो हिमालय सदृश अडिग दिमाग वालों के दिल को भी डवाँडोल कर दिया था। एक साल के ही भीतर असहयोगात्मक (नान-कौपरेशन) नीति के प्रयोग से स्वराज्य लेने की उसकी घोषणा थी। उसकी आवाज थी कि "वकील वकालत छोड़े। विद्यार्थी स्कूल-कालेज छोड़े, सारा देश विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करे आदि, पञ्चबहिष्कार रूपी अमोघास्त्र से एक साल में ही स्वराज्य मिल जाएगा।" चूँकि यह विश्वविद्यालय अपने जन्म से ही राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत रहा। इसके सस्थापक महामना मालवीय जी भी स्वयं ही दधीचि

की भाँति देश की आजादी के लिए अस्थि प्रदान को भी तुच्छ उत्सर्ग समझते थे। सदा से यहाँ के प्रत्येक अधिकारी, अध्यापक तथा छात्र वर्ग की रक्तवाहिनी धमनियों में देशभक्ति का प्रवाह चलता आया है। यहाँ के तात्कालिक अध्यापकों में डा० शान्तिस्वरूप भटनागर, डा० गणेशी प्रसाद, प्रोफेसर शेषाद्री, प्रो० तैलंग, श्यामाचरण डे आदि जैसे धुरन्धर विद्वानों ने अन्यत्र जाकर धनार्जन का लोभ छोड़कर राष्ट्र की सेवा भावना से प्रेरित होकर स्वल्प वेतन पर ही यहाँ कार्य किया। उनमें भी महामना जी के त्याग का अनुकरण कर डे साहब ने तो एक धेला भी वेतन न लेकर बल्कि गाढ़ी कमाई का सहस्त्रों रुपया विश्वविद्यालय को प्रदान कर यावज्जीवन इसकी सेवा द्वारा राष्ट्र-सेवा का उदात्त उदाहरण प्रस्तुत किया। यहाँ के प्रत्येक छात्र के रहन-सहन को देखकर तबीयत खिल उठती थी। अन्य युनिवर्सिटियों की तरह यहाँ कोई तड़क-भड़क नहीं, नशा, मांस, मछली आदि की कहीं गन्ध तक नहीं, पान की कहीं भी कोई दूकान नहीं। इसप्रकार पवित्र वातावरण, प्राचीन कुलपतियों की तपोभूमि व आश्रमों का स्मरण दिलाकर इस विश्वविद्यालय ने अपने प्रारम्भिक जीवन से ही यह सिद्ध कर दिया कि यह जन्मजात राष्ट्रीय है। इन सब विशेषताओं के कारण ही सारे राष्ट्र को इसने अपनी ओर आकृष्ट कर रखा था। उस समय (असहयोग आन्दोलन के समय) यह राष्ट्रीय हिंदू विश्वविद्यालय देश के महान् राजनीतिक नेताओं का मञ्च बन गया था। तब इसका अध्यापनादि कार्य कमच्छा पर ही होता था। केवल इन्जीनियरिंग की पढ़ाई वर्तमान भूमि में होती थी। कमच्छा स्थित किंग एडवर्ड होस्टल के सामने के मैदान में, जहाँ पर इस समय टीचर्स ट्रेनिंग कालेज है, रात दिन नेताओं की सभा और भाषणों का ताँता लगा रहता था। कभी पं० मोतीलाल नेहरू आ रहे हैं तो कभी उनके सुपुत्र जवाहर लाल नेहरू, कभी सी० आर० दास का भाषण है तो कभी सत्यवती देवी आदि महिला नेत्रियों का। सभी नेताओं का यही आह्वान रहता कि भारत माता की परतन्त्रता की बेड़ी छुड़ाने के लिए स्कूल कालेज छोड़कर आजादी के जंग में कूद जाओ। छात्र और अध्यापकों के आगे "असहयोग" नीति एकदम नयी वस्तु थी। वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर समझ ही नहीं पा रहे थे कि क्या करना चाहिए ? सभी का चित्त दोलायमान था। अध्ययन अध्यापनादि सभी कार्य बन्द हो गए।

राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण विश्वविद्यालय का भी जीवन सन्दिग्ध हो गया। हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ने वाले छात्रों की पढ़ाई के लिए महात्मा गान्धी द्वारा भदैनी में, जहाँ पर इस समय महिला अस्पताल बना है विद्यापीठ नामक शिक्षा संस्था की नींव डाली गई। उस समय इस विश्वविद्यालय की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न हो गई थी। किन्तु शिक्षा जगत् के परम सूक्ष्मदर्शी आचार्य, महामना मालवीय जी की राष्ट्र हितकारी दृढ़ नीति ने ही इसे पुनरुज्जीवित और परिवर्धित किया। अपनी रक्षा के साथ ही इस हिन्दू विश्वविद्यालय ने गान्धी जी के आह्वान पर देश की आजादी के लिए श्री कृपलानी, गाङ्गेयनरोत्त शास्त्री आदि अध्यापकों, धर्मवीरत्यागी, हरप्रसाद, लक्ष्मीनारायण आदि अनेकों छात्रों को समर्पित भी किया। अर्थात् यहाँ के बहुत से छात्र और अध्यापक असहयोग आन्दोलन में सामिल हो गए। उस आन्दोलन के समय जब कि यहाँ का अध्यापक और छात्रमण्डल अत्यन्त बौद्धिक अस्थिरता में पड़ा था, तब महामना जी ने कमच्छा के काशी नरेश हाल (रणवीर पाठशाला के नीचे का कक्ष) में लगा-

तार ५ घंटे के अपने ऐतिहासिक भाषण से छात्र और अध्यापक वर्ग के मन में यह बात बैठा दी कि देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए भारत जैसे अशिक्षित देश का शिक्षा का बहिष्कार करना अत्यन्त अव्यवहार्य है। उस दूरदर्शी देश भक्त की उक्त वाणी अक्षरशः सत्य साबित हुई। महात्मा गान्धी ने बाद में यह स्वीकार किया कि 'शिक्षा का बहिष्कार' यह मेरी भूल हिमालय के समान बड़ी थी। महामना जी ने अपने उस भाषण में स्पष्ट कहा कि 'जो लोग देश की आजादी के लिए शिक्षा का कितना महत्व है। यह नहीं समझते वे स्कूल कालेज छोड़ सकते हैं।' महामना जी की दृष्टि में देश से बढ़कर विश्वविद्यालय नहीं था, बल्कि यह विश्वविद्यालय देश के लिए जरूरी था। वे अपनी अन्तर्दृष्टि से यह पहले ही देख चुके थे कि भविष्य में स्वतन्त्र होने वाले देश के विकाश के लिए आधुनिक विज्ञान की शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। यही बात है कि युनिर्वासिटी के भवन निर्माण में सर्वप्रथम इन्जीनियरिंग कालेज का ही निर्माण हुआ। बिरला होस्टल में सबसे पहले इन्जीनियरिंग के ही छात्र रहते थे। तब ब्रोचा होस्टल बना भी नहीं था। शिक्षा के विषय में महामना जी की उस दीर्घदर्शिता का ही परिणाम है कि स्वतन्त्र भारत के कल कारखाने, उद्योगधन्धों, फैक्टरियों आदि सभी स्थानों में यहाँ के स्नातक इन्जीनियर आदि उच्चपदों पर प्रतिष्ठित होकर देश की सर्वोपरि सेवा कर रहे हैं।

विश्वविद्यालय को सन् ३० और ३१ के बीच पुनः घोर विपत्ति का सामना करना पड़ा। कारण यह है कि इसका जीवन देश से प्राप्त मधुकरी, राजा-महाराजाओं का नियतचन्दा और ब्रिटिश सरकार से प्राप्त अनुदान पर निर्भर था। सन् ३० में सत्याग्रह आन्दोलन की अग्नि धधक रही थी। ब्रिटिश सरकार उसके तीव्र ताप से सन्तप्त थी।

देश के चुने नेता एक के बाद एक जेल चले गए थे। महामना जी भी कब पीछे रहने वाले थे, वे भी बम्बई में सविनय अवज्ञा या सत्याग्रह करने के कारण जेल चले गए। उन्हें १५, २० दिन तक जेल में रखकर छोड़ दिया गया। कांग्रेस कार्य व आन्दोलन सञ्चालन का भार उन्हीं के ऊपर था, और सभी नेता जेल में थे। सन् ३० के २६ अगस्त को दिल्ली में सत्याग्रह करने के कारण महामना जी पुनः जेल चले गए। ब्रिटिश सरकार आग बबूला हो उठी, उसे यह खटकने लगा कि ऐसी यूनिवर्सिटी को सहायता क्यों दी जाय जिसका वाइस-चान्सलर जैसा सर्वोच्च अधिकारी राजनीति का प्रधान नेता होकर सरकारी आज्ञाओं की अवज्ञाकर जेल जाता हो। इस विचार पर सरकार ने बहुत दिनों तक ग्रांट रोक दी।

उस समय के प्रो-वाइस चान्सलर आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव भी सरकार की नीति से दहल गए। युनिर्वसिटी के कुछ हितैषी सज्जनों ने यह भी विचार प्रकट किया कि मालवीय जी महाराज जेल में रहकर भी वाइस-चान्सलर की हैसियत से विश्वविद्यालय का कार्य कर रहे हैं, सरकार ग्रांट देने में टाल-मटोल कर रही है, इस तरह विश्वविद्यालय का चलना कठिन हो जाएगा, अतः मालवीय जी पदत्याग कर दें तो ठीक होगा। किन्तु महामना जी ब्रिटिश सरकार के दबाव और डर से दबने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे समुद्र के समान गम्भीर धीर पुरुष थे। उन्होंने निःसंकोच और निर्भयता के साथ स्पष्ट ही

9

यह व्यक्त किया कि 'हम विश्वविद्यालय चला लेंगे देश के गौरव को गवाएँगे नहीं।" महामना जी के इस अडिगधैर्य और प्रभाव के आगे भारत सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी।

इसके बाद इस विद्यालय को सन् ४२ में घोर संकट का सामना करना पड़ा, उस समय इसका अस्तित्व व जीवन समाप्त सा हो गया था। अपने आँखों देखी उस घटना को स्मरण कर आज भी इस विश्वविद्यालय की वह दुःखद दशा, किन्तु देश सेवा की दृष्टि से गर्व की दशा सजीव होकर सामने नांचती हुई दिखाई दे रही है।

सन् ४२ की ६ अगस्त को कांग्रेस की कार्यकारिणी ने बम्बई में स्वतन्त्रता प्राप्ति का क्रान्तिकारी प्रस्ताव पास किया। उस प्रस्ताव के अन्दर देशभर के रेल, तार आदि यातायात के साधनों को ठप कर देना, अदालत आदि सभी सरकारी भवनों में राष्ट्रीयध्वज फहराना इत्यादि क्रान्तिकारी योजना निहित थी। चर्चिल सरकार को गुप्तचरों द्वारा यह सब भेद मालूम हो गया। उसने देश के प्राणप्रिय महात्मा गांधी आदि सभी मूर्धन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। रेडियो द्वारा यह समाचार भी प्रसारित कर दिया गया कि "कांग्रेस की योजना ब्रिटिश सरकार का तख्ता उलट देने की थी, उसमें रेल, तार सभी सरकारी साधनों को ध्वस्त करने का प्रस्ताव है, इस कारण कांग्रेस के वर्किंग कमेटी के सभी नेताओं को पकड़कर जेल भेज दिया गया है"। यह गुप्त योजना पहले देशवासियों को मालूम नहीं थी, ब्रिटेन की रेडियो की कृपा से विद्युत् गति की भाँति इसकी खबर सारे देश में क्या फैल गई, मानो राष्ट्रीय आन्दोलन की आग में घी की आहुति पड़ गई।

भारतीय जनता ने देश के प्रति अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। इधर उस समय के कुलपति सर राधाकृष्णन् ने ७ अगस्त को आर्टस् कालेज में देशभक्तिपूर्ण अपने ओजस्वी भाषण में छात्रों को बताया कि महात्मा गांधी गिरफ्तार हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यह राष्ट्रीय हिन्दू विश्वविद्यालय आजादी की धधकती हुई आग में आहुत होने के लिए किसी से कब पीछे रहने वाला था? विश्वविद्यालय के बच्चे-बच्चे की भुजाएँ फड़क उठीं।

डा० कुशलानन्द गैरोला और शर्मा ऐसे अध्यापकों का कुशल नेतृत्व पाकर देश की दासता छुड़ाने के लिए यहाँ का प्रत्येक छात्र विह्वल हो उठा। छात्रों की गान्धी चबूतरे पर विशाल सभाएँ होने लगीं। कर्त्तव्य निर्धारण कर लिया गया। बिरला छात्रावास के ई ब्लाक के एक कमरे में कार्यालय कायम हो गया। कांग्रेस की क्रांतिकारी योजना को चरितार्थ करने के लिए छात्रों के जत्थे पर जत्थे बाहर जाने लगे। शारीरिक शिथिलतावश महामना जी शय्याश्रयण लिए हुए थे। स्वतन्त्रता के कान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए छटपटा रहे थे, किन्तु रुग्णदशा से लाचार थे। देश के कल्याण के लिए छात्रों को उनका आशीर्वाद प्राप्त था। सन् ४२ के ७ अगस्त को वाइस चान्सलर सर राधाकृष्णन् के भाषण के बाद जब छात्र महामना जी के पास पहुँचे और उनसे कहने लगे कि बाबू जी! स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर बलिदान की आज्ञा दीजिए। तो उत्तर में महामना जी ने कहा "जाओ माँ के दूध को स्मरण करते हुए, धैर्य, उत्साह से काम लेना, माँ की बेड़ियों की याद करके जो भी करोगे भविष्य में अनुपयुक्त मालूम नहीं पड़ेगा।" बस अब क्या था? तपस्वी, मनस्वी, महामना का अमोघ आशीर्वाद पाकर छात्र स्वतन्त्रता, की बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग के लिए तत्पर हो गए। डाक्टर कुशलानन्द की

व्यवस्था से सर हथेली पर रख कर यहाँ के छात्रों का जत्थे पर जत्था रातों रात चारों ओर जाने लगा। जत्थे में सामिल छात्रों को यह मालूम नहीं होता था कि कहाँ जाना है, क्या करना है। केवल जत्थे का नायक ही जानता था कि कहाँ जाना है और क्या करना है। योजना की सब व्यवस्था रात में होती थी, दिन में सभा और नोटिस् चिपकाने आदि के कार्य होते थे। किसी भी कालेज के छात्र आन्दोलन में भाग लेने में पिछड़े नहीं थे।

मूसलाधार पानी पड़ने पर भी छात्रों की सभा जम कर होती थी। यहाँ के छात्र आसपास के सभी जिलों में आन्दोलन चलाने फैल गए थे। इस तरह यहाँ के छात्रों ने सन् ४२ में क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेकर देश की कीर्ति को उज्ज्वल किया। तभी तो सन् ४५ में जेल से छूटने पर जवाहरलाल नेहरू ने यहाँ के छात्रों के बीच एक भाषण में कहा कि मैं यहाँ तुम्हें मुवारक बाद देने आया हूँ। शाबासी देने आया हूँ।

छात्रों का यह राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलन सुसंगठित और सुव्यवस्थित रूप से १८ अगस्त तक बड़ी तीव्र गति से चलता रहा। कचहरी, स्कूल, कालेजों आदि जगहों पर राष्ट्रिय झंडा फहराया गया। जहाँ-तहाँ रेल की पटरी उखाड़ दी गई। तार के खम्भे धराशायी हो गए। छोटी, बड़ी लाइन का चलना अनिश्चित हो गया। स्थानीय 'नीदर सोल' आदि ब्रिटिश अधिकारी समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह सब संगठित क्रांति कौन कर रहा है? इसका अड्डा कहाँ है? अन्त में सरकार को गुप्तचरों से ज्ञात हो गया कि हिन्दू विश्वविद्यालय ही इस क्रान्ति का मुख्य केन्द्र बना हुआ है। वहीं से यह आन्दोलन सञ्चालित हो रहा है। पता लगते ही सरकार उग्रदमन करने पर उतारू हो गई। ता० १८ अगस्त की काली रात्रि में विश्वविद्यालय पर फौजी कब्जा करने की कुल तैयारी कर ली गई। १८ अगस्त की रात्रि के अन्त और १९ अगस्त के भोर में पौ फटने के पूर्व ही मशीन गन, अश्रु गैस, बन्दूक आदि अस्त्रों से लैस गोरे सिपाहियों से भरी हुई ट्रकें धड़ा-धड़ पहुँचने लगीं। पीछे से हिन्दुस्तानी पुलिस से भरी लारियाँ भी आने लगीं। सैकड़ों की संख्या म, पुलिस ने पहुँचते ही सबसे पहले बिरला छात्रावास को चारों ओर से घेर लिया। उस वक्त वार्डन की हैसियत से मामला जानने के लिए मैं भी बिरला छात्रावास चला गया। गैरोला कहाँ है? शर्मा कहाँ है? कहती हुई पुलिस इधर-उधर उन लोगों को खोजने लगी। किन्तु जो नेता कान्तिकारी आन्दोलन को सुव्यवस्थित तौर से चला रहे थ वे ऐसे असावधान नहीं थे कि पुलिस के फन्दे में पड़ जायें। वे आन्दोलन को दबा देने वाली सरकार के सभी तरह के सम्भाव्य उपायों से भी पूर्णतया सावधान थे, उनके भी देश भक्त गुप्तचर थे, उन्हें मालूम हो गया था कि आज रात सरकार विश्वविद्यालय के ऊपर फौजी धावा बोलने वाली है। उन लोगों ने आफिस् से सभी तरह के कागज हटा लिए, स्वयं भी ऐसे लापता हो गए कि सरकार उन राजनैतिक कर्मठ नेताओं का पता तीन साल तक न लगा सकी। पुलिस के एक औफिसर ने बड़े-ताव से कहा कि चीफ वार्डन साहब नीचे आइए। हुजूर आया कहते हुए चीफ वार्डन साहब नीचे उतरे। आफिसर ने कहा—युनिवर्सिटी अब सरकारी कब्जे में है, दो घंटे के अन्दर सारा होस्टल खाली कराइए अच्छा!

फौज और पुलिस की पेट्रौलिंग विश्वविद्यालय के भीतर-बाहर चारो ओर शुरू हो गई। छड़दिवाल के बाहर चारो ओर घुड़सवार फौज चक्कर काटने लगी। मालूम

पड़ता था कि ब्रिटिश आर्मी अल्अलामीन, तोब्रुक डंकर्क आदि रणक्षेत्र छोड़कर विश्वविद्यालय के देशभक्त, क्रान्तिकारी, किन्तु निहत्थे अहिंसक छात्रों को अपने शौर्य का परिचय देने आई है। होस्टल के कमरे-कमरे की सर्च होने लगी कि योजना सम्बन्धी गुप्त कागजों का पता लग जाय। किन्तु फौज के पहुँचने के पहले ही सभी तरह के कागजों की सफाई हो चुकी थी। रुइया होस्टल के सी ब्लाक के वार्डन की हैसियत से मुझे भी हुक्म हुआ कि दो घंटे में होस्टल खाली होना चाहिए। सर्च भी शुरु हो गई। छात्रावास के सी०डी० दोनों ब्लाक संस्कृत के छात्रों से भरे थे। अधिकांश में छात्र जत्था बनाकर वलिया वगैरह जिलों में आन्दोलन कार्य करने गए थे। कुछ छात्र अपना कार्य पूरा कर लौट आए थे, साथ में तोड़े हुए तारों को भी लाकर कमरे में रख दिए थे। प्रचार और क्रान्ति योजना के कुछ पर्चे कमरा नं० ८३ में टेबुल के ऊपर किताबों से दवाकर रखे हुए थे। पुलिस के आने की खबर तथा सर्च की हलचल होते ही छात्रों ने उन तारों को पास के किसी कुएँ में डाल दिया। पर्चे वाले कमरे में घुसने पर भी पुलिस को वे पर्चे इस भावना के कारण नहीं मिले कि ये संस्कृत वाले हैं, इनके पास एकाध किताबें हैं और कोई विशेष सामान नहीं है। "दो घंटे में खाली कीजिए" हुक्म पर जब यह कहा गया कि बहुत से छात्रों का मनिआर्डर आने वाला है, बहुतों के कपड़े धोबी के यहाँ है कुछ समय और मिलना चाहिए। तो इस पर उन सरकारी अधिकारियों ने कुछ भी नहीं सुनी। इंजीनियरिंग के बहुत से छात्रों ने होस्टल छोड़ने से इनकार कर दिया तो पुलिस ने उन्हें जबरदस्ती लारी में विठा कर बाहर कर दिया। दो घंटे में खाली करने का हुक्म छात्राओं को भी दिया गया। विश्वविद्यालय के नुक्कड़ों, चौराहों, गाँधी चबूतरे आदि विशेष जगहों पर सशस्त्र गोरे सिपाही तैनात कर दिए गए। लाइब्रेरी में गोरी पल्टन का शिविर नियत कर दिया गया। इंजीनियरिंग कालेज की बहुत सी मशीनें कानपुर भेज दी गईं। उस समय क्रुद्ध ब्रिटिश सरकार का यही निश्चय सुनाई पड़ा कि इस युनिवर्सिटी को फौजी छावनी के रूप में बदल दिया जाएगा। होस्टल बैरिक का काम देंगे इत्यादि। अतः इस विश्वविद्यालय का जीवन समाप्त सा दिखाई देने लगा। देश की सर्वोत्तम निधि को विनाशोन्मुख देखकर विस्तरे पर पड़े हुए महामना जी भी कुछ चिन्तित से हो गए। उसी बीच किसी ने यूनिवर्सिटी के अन्दर साधारण आगजनी और विस्फोट की घटना कर दी। छात्रों को तो फोर्स के बल हटा दिया गया था, यूनिवर्सिटी खाली हो चुकी थी। केवल अधिकारी और अध्यापक लोग रह गए थे। विश्वविद्यालय की देख-रेख व रक्षा के लिए सभी कालेजों के अध्यापकों की २४ घंटे की ड्यूटी बाँध दी गई। शहर में रहने वाले अध्यापक पारापारी से दिन में ड्यूटी देते थे, उसी प्रकार विश्वविद्यालय के अन्दर रहने वाले अध्यापक रात्रि में पहरे पर सजग रहते थे। अध्यापकों ने भी पूरी निष्ठा के साथ कर्तव्य पालन किया। अध्यापक लोग अपने से सम्बद्ध कालेज के कमरे में रात भर पहरे पर बैठे रहते थे। उस समय विश्वविद्यालय का जीवन एकदम अनिश्चित था। क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने के कारण होने वाली ऐसी कठिन स्थिति भारतवर्ष की और किसी भी यूनिवर्सिटी में नहीं आई। किसी प्रकार इसकी रक्षा करना जरूरी था। जब कुलपति सर्वपल्ली सर राधाकृष्णन् ने गवर्नर आदि उच्च अधिकारियों को बहुत समझाया और आश्वासन दिया तब किसी प्रकार सरकारी अधिकारियों का रुख बदला।

फिर भी विश्वविद्यालय उस वर्ष ६ महीने से भी अधिक समय तक बन्द रहा। ६ महीने के बाद भी ऊँची कक्षा के क्रम से खुला, एक साथ नहीं। उस वर्ष इसका कन्वोकेशन अप्रैल के १५ ता० के बाद ही हुआ था। इस प्रकार यह विश्वविद्यालय राष्ट्र की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में सदा सक्रिय सहयोग अपने जन्म से ही देता आया है। इसका जीवन व यहाँ का वातावरण हमेशा असाम्प्रदायिक रहा है। अविभक्त भारत के चतुर्दिक के छात्र यहाँ भाई चारे के साथ रहते आए हैं। हिन्दू, मुस्लिम सम्बन्धी साम्प्रदायिक बातें तो यहाँ किसी भी कालेज या होस्टल में कभी भी देखने व सुनने में नहीं आई। इस प्रकार का मूर्त्त राष्ट्रीय जीवन भारत के किसी भी विश्वविद्यालय में देखने में नहीं आता। आज से ४४ वर्ष पहले का कोरी षड्यन्त्र केश के मामले में फाँसी पर झूल जाने वाला लाहड़ी यहीं का छात्र था। उस केश में सामिल होने वाला राजकुमार सिन्हा यहीं का छात्र था।

आज से ४० वर्ष पहले कांग्रेसी नेता सेठ जमनालाल बजाज द्वारा खादी भण्डार की स्थापना इसी विश्वविद्यालय में हुई, देश के अन्य किसी विश्वविद्यालय में नहीं हुई। सन् ३० के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने पर यहाँ के छात्र टाऊनहाल के मैदान में लाठी और गोली खाने से पीछे न हटे १०, १५ छात्र गोली और लाठी की मार से घायल होकर सुन्दरलाल अस्पताल में भर्ती हुए थे। यहाँ के छात्र सदा अनुशासन प्रिय रहे हैं साम्प्रदायिक भावना से कोई भी कार्य यहाँ के छात्रों ने आज तक कभी नहीं किया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में सर्वत्र उच्च शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी हिमगिरि से कन्याकुमारी तक एवं कटक से काश्मीर तक के विभिन्न प्रान्तों के बहुत से छात्र केवल इसी विश्वविद्यालय में शिक्षा पा रहे हैं। भारत के सभी प्रान्तों के अध्यापक भी यहाँ नियुक्त होकर कार्य करते हैं।

इस प्रकार भारत के सभी प्रान्तों से आए हुए बहुसंख्यक छात्र एवं बहुसंख्यक अध्यापक अन्य किसी भी युनिवर्सिटी में नहीं मिलेंगे। यह सच्चे माने में राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय है। इसके संस्थापक महामना जी ने सन् ११ में जब इसकी स्थापना के लिए बनाई गई सोसायटी की रजिस्टरी कराई तो उन्होंने साम्प्रदायिक नहीं बल्कि सच्चे राष्ट्रीय-भावना से प्रेरित होकर "हिन्दू विश्वविद्यालय" इस नाम से रजिष्टरी कराई। इसका "हिन्दू विश्वविद्यालय" यह नाम सन् १६ के पहले सन् ११ में ही रजिस्टर्ड नाम है। यह इस विश्वविद्यालय का कानूनी नाम है। इसके संस्थापक व जन्मदाता महामना मालवीय जी असाधारण देशभक्त थे। सन् १८८५ में जन्मी हुए कांग्रेस से पहले से ही वे राष्ट्रभक्त थे। उनके सभी कार्य राष्ट्रीयभावना को लेकर ही हुआ करते थे। यह ध्रुव सत्य है कि महामना जी ने जिस दृष्टिकोण से इस विश्वविद्यालय का नाम हिन्दू शब्द सहित यह जो "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय" रखा इसमें लेशमात्र भी साम्प्रदायिकता नहीं है। यहाँ पर यदि महामना जी के मन में हिन्दू शब्द से एक गैर मुस्लिम सम्प्रदाय विशेष अर्थ अभिप्रेत होता तो निश्चय वे इसका ऐसा संविधान बनाते कि जिससे इसमें कोई भी गैर हिन्दू प्रवेश न पाता। जैसे इस समय की भारत सरकार हिन्दुस्तान को "भारत" इस नाम से पुकारती है और उसकी दृष्टि में रहने वाला कोई भी मनुष्य किसी भी सम्प्रदाय

का क्यों न हो वह भारतीय ही कहा जा सकता है। ठीक इसी तरह महामना जी भी 'हिन्दुस्तान' को केवल हिन्दुओं का ही देश न मानकर भारतियों का देश मानते थे। अर्थात् वे "हिन्दुस्तान" इस शब्द में और "हिन्दू विश्वविद्यालय" इस नाम में आए हुए हिन्दू शब्द को जातिविशेषपरक नहीं मानते थे "भारतवर्ष" के अर्थ में मानते थे। इस विषय में अधिक न कहकर महामना जी विरचित एक श्लोक उद्धृत करना पर्याप्त होगा—

पारसीयैर्मुसलमानैरीसाईयैर्यहूदिभिः
देशभक्तैर्मिलित्वा च कार्यादेश समुन्नत्तिः।
पुण्योऽयं भारतो वर्षो हिन्दुस्तानः प्रकीर्तितः
वरिष्ठः सर्वदेशानां धनधर्मसुखप्रदः॥

इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण क्या हो सकता है कि महामना जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के नाम में जो हिन्दू शब्द रखा है वह भारतराष्ट्र का बोधक है किसी एक सम्प्रदाय का द्योतक नहीं है। एक वात यह भी विचारणीय है कि महामना जी ने इस विश्वविद्यालय के नाम के साथ हिन्दू शब्द साम्प्रदायिक भावना से रखा होता तो उनका ऐसा मनस्वी मुसलमानों से चन्दा कभी नहीं लेता। राष्ट्रीय या भारतीय विश्वविद्यालय मानकर ही उन्होंने हैदराबाद के नवाब से चन्दा लेकर उस स्टेट के नाम से यहाँ हैदराबाद क्वार्टरों को बनाया। रामपुर के नवाब से चन्दा लेकर इन्जीनियरिंग कालेज में रामपुर हाल का निर्माण किया। इन ज्वलन्त उदाहरणों से सिद्ध है कि यह 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' एक सर्वोच्च राष्ट्रीय विश्वविद्यालय है।



संस्मरण-सप्तक

पद्मनारायण आचार्य
रीडर, हिन्दी विभाग

१

सन् २२ से लेकर सन् ४६ तक जिस लोकाभिराम मूर्ति को मैंने अनुकरणीय और वंदनीय मानकर बराबर देखा, उसके सकड़ों संस्मरण मेरे सामने इस समय राम के ग्राह्य गुणों के समान स्मृति-पथ पर अंकित हैं। इच्छा हुई कि संस्मरण-शतक लिखूँ जिसमें पचास सुने और पचास देखे संस्मरण हों, आचारित तो प्रायः सभी होंगे। परन्तु सीमा और बंधन की बात सोचकर कुछ चुने हुए संस्मरण ही लिखूँगा और कुछ का केवल उल्लेख कर दूँगा। महात्मा गाँधी ने कभी उन्हें भगवान् की दृष्टि से देखा है और कभी भारत-भूषण भागवत व्यास की दृष्टि से। आचार्य केशवजी 'आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहाराः तेषु मा संशयोऽभूत्' कहकर स्मरण किया करते थे। पं० रामनारायण मिश्र उन्हें 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' का मूर्तिमान रूप कहा करते थे। रायकृष्ण जी उन्हें अद्‌भुत महापुरुष कहकर उनका संस्मरण सुनाया करते थे। मेरे पिता जी उन्हें 'पंडित मोहिनी' शक्ति कहा करते थे।

२

अद्‌भुत आत्मबल

बहुत पुरानी बात है— सन् १९०५ के लगभग काशी में एक राजनैतिक सभा हुई थी। इस अखिल भारतीय मंच पर महामना पं० मदन मोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आदर्श चित्र उपस्थित किया। पंडित जी के कोकिलकण्ठ से सब विस्मय-विमुग्ध थे पर प्रस्ताव पर न तो किसी ने टीका-टिप्पणी की और न समुचित ध्यान ही दिया। सिगरेट और चाय पीने में मालूम पड़ता था कुछ राजनीतिज्ञ इसे असम्भव और अनावश्यक समझ रहे हैं पर महामना मालवीय जी अपनी सहज प्रसन्नता के साथ विजय की मुद्रा में बोले—"आज मुझे विश्वास हो गया कि यह विश्वविद्यालय राष्ट्रीय सेवा करेगा और इस अखिल भारतीय राजनीतिज्ञ समाज को यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत है। अतः धन्यवाद देकर मैं जाता हूँ।"

सभा समाप्त होने पर एक व्यक्ति उनके चरणों में प्रणत होकर बोला—निश्चय ही आप अपने अद्‌भुत आत्मबल से विश्वविद्यालय को बना देंगे। आपने इस विषम और उपेक्षामय वातावरण में अपना काम कर ही लिया। तब समरस और अपेक्षामय वातावरण में आप क्या करेंगे इसमें कोई संदेह नहीं।

इस प्रणत व्यक्ति का नाम था—रायकृष्णजी। वे पाण्डेपुर के रईस थे उन्होंने मालवीयजी की अद्‌भुत शक्ति का परिचय देने के लिए मुझे यह संस्मरण सुनाया था।

३

विश्वविद्यालय की सुगंध

सन् ४४ या ४५ की बात है—वसन्त पंचमी का दिन था। मैं दो एक साथियों के साथ उषःकाल में ही पुण्यश्लोक मालवीयजी महाराज के दर्शनार्थ गया—माल्यार्पण के साथ मैंने मालवीयजी महाराज के एक हाथ में चन्दन का इत्र लगा दिया। आशिर्वाद तो वे दे ही चुके थे परन्तु इत्र लगाते ही वे बोल पड़े इसे पोंछ दो। मुझे इत्र की गन्ध पसन्द नहीं है। मुझे शील की गन्ध, चरित्र की गन्ध, धर्म की गन्ध और सबसे अधिक विश्वविद्यालय की सुगन्ध पसन्द है।

४

प्रसन्नात्मा

आचार्य केशवजी ने 'संस्कृतसौरभम्' नामका एक संगह निकाला था। उसे भेंट करने के लिए वे मालवीयजी की सेवा में पहुँचे। मालवीयजी ने उस संग्रह को उलट-पलट कर पूछा कि इसमें सबसे सुन्दर पाठ और सबसे सुन्दर श्लोक कौन सा है? गुरुवर केशवजी ने छूटते ही उत्तर दिया - प्रथम पाठ सबसे अच्छा पाठ और उसका प्रथम श्लोक सबसे अच्छा श्लोक है। इसी क्रम में कहते हुए केशवजी ने अपने मीठे स्वर में निम्नलिखित श्लोक पढ़ा और व्याख्या की—

स च नित्यं प्रसन्नात्मा मृदुपूर्वंच भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥

आचार्यवर की विशद व्याख्या का निष्कर्ष यह था कि इस श्लोक में राम का ग्राह्य चरित वर्णित है और साथ ही हमारे कुलपति का भी गुणानुवाद हो जाता है। इसीलिए मैं इसे शिष्टाचार का मन्त्र मानकर अपने शिष्यों और छात्रों को सिखाया करता हूँ। मैं भी केशव जी के साथ था इसलिए मेरे सामने तीन चित्र एक साथ उपस्थित होते हैं - राम, मालवीयजी तथा केशवजी, तीनों की प्रसन्नात्मा मूर्ति मेरी आँखों के सामने झूलने लगती है। तीनों बड़े लोकाभिराम और मृदु थे - मृदु बोलने के साथ वे लोग पूर्व बोलने के अभ्यासी भी थे। और परुषबात का मीठा उत्तर मौन है यह भी इन तीनों के जीवन में मैंने देखा और अनुभव किया। तीनों प्रातः स्मरणीय महापुरुषों का एक साथ स्मरण करके आज मैं पुलकित और रोमांचित हो रहा हूँ। पुण्य श्लोकत्रयी का नित्य प्रातः एक ही श्लोक में स्मरण करता हूँ। ऐसे प्रातः स्मरणीय थे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक।

५

रसदृष्टि

बहुत पुरानी बात है प० रामनारायण मिश्र एक सभा के संयोजक थे। मालवीयजी महाराज तीन वजे उस सभा में बोलने वाले थे। नागरी प्रचारिणी के भवन में अपार

भीड़ थी मालवीयजी ठीक चार वजे पहुँचे। उनके प्रवेश करते ही संयोजक ने कहा— लोग एक घंटे से प्रतीक्षा में बेचैन हैं। मालवीयजी महाराज ने सहज मुसकान से कहा— 'रामनाराणजी, Take me as I am with all my faults" (टेक मी एज़ आइ एम विथ आल माइ फाल्ट्स) मुझे सब विकारों के सहित पूर्ण रूप में ग्रहण करो अर्थात् निर्दोष और रसमय पूर्णता देखो। यही रसदृष्टि महामना की महत्ता थी।

६

तुलसी जयन्ती का महत्त्व

सन् १९३८ की बात है। ८ अगस्त को मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवक्ता का पद ग्रहण करने जा रहा था। महाविद्यालय जाने से पूर्व मैं मालवीयजी के चरण-स्पर्श करने गया। कुलपति ने आशीर्वाद देते हुए कहा—कोरे प्रवक्ता नहीं सेवा-व्रती बनना है। देखो अभी हाल में तुलसी जयंती हुई है। पर हिंदी-विभाग मे कोई उत्सव नहीं हुआ। तुम्हें इसका व्रत लेना होगा कि तुलसी-जयंती साधारण उत्सव नहीं व्रतोत्सव है। तुलसी-जयंती मनाकर हम केवल राष्ट्र की ही नहीं, अपनी भी सेवा करते हैं और जब तक मानव स्वयं आत्मोन्नति नहीं कर लेता तब तक वह राष्ट्र और भाषा की सेवा क्या कर सकेगा? मैं आशीर्वाद के साथ ही व्रत लेकर आगे बढ़ा।

७

काशी हिंदू विश्वविद्यालयः तीन बिंदु

प्रथम स्थापना-दिवस सन् १६ में हुआ। तदनन्तर रजतजयंती और स्वर्ण जयंती के उत्सव हुए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास मे ये तीन महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं। तीनो पर दो महापुरुषों का मिलन हुआ, महात्मा गांधी और महामना मालवीयजी का। रजत जयंती पर तो मैंने अपनी आँखों से देखा था। प्रथम उत्सव गुरुजनों की आँखों से देखा और आगामी स्वर्णजयंती कल्पना के दिव्य-चक्षु से देख रहा हूँ।

रजतजयंती पर महामना मालवीयजी ने महात्मा गाँधी का स्वागत करते हुए कहा था कि हमारा देश महान है उसमें 'महतांच महच्चयत्' का सौन्दर्य छिपा है। उसी महत्ता और सौन्दर्य को सीखने-सिखाने के लिए विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। महात्माजी ने सभापति पद से अनेक बड़ी बातें कहीं। उनमे से दो मुख्य थीं। एक तो यह कि इस विश्वविद्यालय में हिन्दू विद्यार्थियों की संख्या अधिक हो और वे लोग हिन्दू धर्म का और हिन्दी भाषा का महत्व सीखें। यहाँ के अध्यापक यह व्रत लें कि उन लोगों को हम इस प्रकार सिखाएँगे और पढ़ाएँगे कि वे हिन्दुत्व के मर्म और महत्व को केवल सीखें ही नहीं जीवन में उतार सकें। दूसरी बात उन्होंने यह कही कि महामना मालवीयजी, महामना कैसे हो गए; इतने महान क्यों माने जाते हैं। इनमे एक आकर्षण है, इनका विरोधी भी इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है। मैं स्वयं अनेक बातों में मालवीयजा महाराज से मतभेद

रखता हूँ पर उनके व्यक्तित्व के आकर्षण की खोज होनी चाहिए और वैसा ही आकर्षक और महान व्यक्तित्व यहाँ के अध्यापकों और विद्यार्थियों का ध्येय होना चाहिए। इस प्रकार यह अनूठा उत्सव मैंने अपनी आँखों देखा और अद्भुत भाषणों को अपने कानों सुना। पहला उत्सव सुनते हैं इससे भी अधिक महान था। उसमें गांधीजी ने अपना प्रयोगात्मक भाषण दिया था और मालवीयजी महाराज ने हिन्दुत्व का साक्षात्कार करने के लिए साक्षात्कृत धर्मा के समान कहा था —

तत्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

हमारे हिन्दुत्व और हमारी राष्ट्रीयता का महान सत्य आवरण से ढँका हुआ है भगवान् उसे आप खोलिए जिसमे हमारे राष्ट्र को सत्यधर्मादृष्टि मिल जाय।

अब आगामी स्वर्ण जयंती पर ये दोनों महापुरुष क्या कहेंगे ? वह उनकी विरासत से स्पष्ट है। एक ने सत्य का प्रयोग हमे दिया है और दूसरे ने सत्य का साक्षात्कार। एक ने आधा राम नाम उपलब्ध किया और उसकी महत्ता पूरे राष्ट्र पर अंकित कर दी, दूसरे ने पूरा राम नाम काशी के गंगा तट पर बैठकर दीक्षा द्वारा वितरित किया और पूरे राष्ट्र को दीक्षित कर दिया। एक ने हिन्दुत्व का निरूपण किया और दूसरे ने उसका जतन किया। एक ने अपने माहात्म्य से हिन्दी का प्रचार किया और दूसरे ने अपने माधुर्य से हिन्दी को अबाधगति से आगे बढ़ाया। आज आचार्य चंद्रबली पांडे के शब्दों में महात्मा गांधी और महामना मालवीयजी जैसे महान् और मधुरमूर्ति बनने से ही हिन्दी का पूर्ण अभ्युदय होगा।

———

मालवीयकाव्यम्

रामकुबेरमालवीयः
साहित्यविभागाध्यक्षः वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये वाराणस्याम्

दशमसर्गस्याव शिष्टोंऽशः —

श्रीमालवीयस्स्वपितुर्ललाटे विराजितायास्तिलकप्रणाल्याः ।
अन्यादृशीं चन्दनवर्तुलां तां निजे ललाटे रचयाम्बभूव ॥४३॥

पिता य आसीत्खलु तस्य मान्यः श्रीविष्णुभक्तो ब्रजनाथनामा ।
भाले स ऊर्ध्वं तिलकं विधाय भक्तिं हरेस्स्वां द्रढयाञ्चकार ॥४४॥

मध्येऽरुणं ह्युभयपार्श्वमहोज्ज्वलाभं रेखात्रयात्मकमधत्त उपर्युपात्तम् ।
यस्योर्ध्वपुण्ड्रकमनुक्षणमीक्षमाणास्सत्कल्पनां बहुविधां जनतावितेनुः ॥४५॥

सुधाप्राकारसङ्काशवैराग्यज्ञानवेष्टिता ।
भक्तिर्नारायणस्येव मध्येभालं स्थिरीकृता ॥४६॥

श्रीविष्णुपदयोर्मध्ये निस्सरद्गाङ्गधारयोः ।
दृढरागात्मिकावृत्तिर्भक्तानां किमु राजते ॥४७॥

क्षीराब्धिमध्ये किं विष्णोर्मन्दिरं भक्तिरञ्जितम् ।
शेषशय्योपरिलसन्नारायणपदाम्बुजम् ॥४८॥

लक्ष्मीभुजद्वयेनेव मृणालधवलात्मना ।
संबाह्यमानमेवेदं पद्मताम्रपदं हरेः ॥४९॥

पूजितं पुष्पमालाभिर्नारायणपदाम्बुजम् ।
अतिप्रीत्या शिरोमध्ये मन्ये भक्तेन धारितम् ॥५०॥

रक्तेन मृदुनैकेन पल्लवेनान्तरान्वितम् ।
शुभ्रपत्रद्वयाच्छन्नां भक्तिकल्पलतामिव ॥५१॥

अन्तरारुणपत्राभं पुण्डरीकमिदं किमु ।
किं विष्णोः पदमम्भोजं चामरद्वयराजितम् ॥५२॥

भस्मावृतं तृतीयं किं ज्वलनात्मकलोचनम् ।
ललाटमध्येभक्तेन शिवस्य स्पर्धया धृतम् ॥५३॥

कामक्रोधादिदाहार्थं वह्निकुण्डं सदा ज्वलत् ।
बिलम्बपरिहाराय ललाटे धारितं किमु ॥५४॥

मुक्तावलीवृते विष्णोर्हृदये कौस्तुभो मणिः ।
लक्ष्म्याश्चरणमध्ये किं रक्तोऽयं नखचन्द्रमाः ॥५५॥

हिमालयस्य शिखरे प्रोद्यदादित्यमण्डलम् ।
तारकापरिषन्मध्ये समुद्यन्निव चन्द्रमाः ॥५६॥

कोमलातपशोणाभ्रसंसक्तः शारदोऽम्बुदः ।
यद्वा भौम इवानेकतारके गगनाङ्गणे ॥५७॥

जाज्वल्यमानः क्षीराब्धौ बड़वानल उद्गतः ।
यद्वाम्बुधाविवाभाति प्लवद्धैमाण्डमण्डलम् ॥५८॥

राजते भक्तराजस्य राजहंसः शिरः स्थितः ।
स्फटिकस्रजि संलग्नः पद्मरागमणिः किमु ॥५९॥

आभ्यन्तरसमुत्पन्नवैरिसेनाप्रभुर्बली ।
रागोऽरिः शृङ्खलाबद्धः कारायां संस्थितः किमु ॥६०॥

अरविन्दमिवाभाति प्रफुल्लं सरसि स्थितम् ।
श्रीविष्णुव्रतपूजार्थं सदा शिरसि संधृतम् ॥६१॥

रामलक्ष्मणयोर्मध्ये किमियं जनकात्मजा ।
रक्तशाटीवृता रम्या चकास्तीव पतिव्रता ॥६२॥

वियोगापाण्डुरामस्य लक्ष्मणस्य तथान्तरे ।
सिन्दूरारुणवर्णाभो हनूमान् किं विराजते ॥६३॥

किं पार्वतीशिवाङ्केऽयं गणेशः संप्रतिष्ठितः ।
सिन्दूरारुणसर्वाङ्गः सर्वप्रथमपूजितः ॥६४॥

सुधासंनिर्मिते रम्ये मन्दिरे शिरसि स्थिते ।
हनूमान् रामभक्तोऽयं प्रनृत्यन्निव दृश्यते ॥६५॥

रजोगुणनिरोधाय किमु सत्त्वद्वयं स्थितम् ।
दीपकं राजते पात्रे हरेर्नीराजनाय किम ॥६६॥

सनातनस्य धर्मस्य वैजयन्त्यरुणोज्ज्वला ।
कीर्तिच्छन्नः प्रतापोऽयं श्रीविष्णोः किमु दीप्यते ॥६७॥

शङ्खमध्ये धृतं पद्मं हीरस्रजि नु विद्रुमम् ।
राजते भाजने शुभ्रे पूजार्थं सरसीरुहम् ॥६८॥

पार्श्वद्वये तु धवला मध्येरक्तपटीमयी ।
विष्णोः किं स्वागतार्थाय चरणाम्बुजवर्तनी ॥६९॥

शुक्लाम्बरसमाच्छन्ना मध्ये रक्तपटावृता ।
विष्णोः स्वागतमाङ्गल्यसरणिः किमु निर्मिता ॥७०॥

त्रासाय यमदूतानां विष्णुव्रतत्रयी किमु ।
सर्वपापविनाशाय साधूनां रक्षणाय च ॥७१॥

भगवद्भक्तबन्धूनामस्त्ररूपेण रक्षितः ।
श्रेष्ठस्तिलकराजोऽयं प्रतिष्ठां परमां गतः ॥७२॥

मूलं धर्मतरोः फलं श्रुतवतां पुण्यस्य सद्म श्रिया
माधारस्सुगुणोत्करस्य जनिभूस्सत्यस्य धामौजसः ।
धैर्य्यस्यापिपरोऽवधिः प्रतिनिधिः कल्पद्रुमस्याद्भुतो
मन्दारो विदुषां जनैस्स ददृशे श्रीमालवीयः पथि ॥७३॥

इति दशमस्सर्गः ॥

किं वा फलैश्च सहकारमधूकमुख्यैर्द्राक्षादिभिः किमु सिताज्ययुतैः पयोभिः ॥
दुग्धोदधेर्मधुरया सुधयाऽपि किंवा यत्रोल्लसन्ति कविताः कविपुङ्गवानाम् ॥१॥
वन्द्यस्सतां कविपतिस्स उमापतिश्च यः पारिजातहरणाभिधकाव्यकर्ता ॥
श्रीरुक्मिणीहरणकाव्यविधातृकाशीनाथो महान्कविवरो जगति प्रसिद्धः ॥२॥
श्रीमत्कवीन्द्ररतिनाथकविस्त्रिनाथौ श्रीप्रेमवल्लभमहाकविचक्रवर्ती ॥
ते दीक्षिताश्च कवयो मथुराप्रसादा यैः पञ्चविंशतिविधाः कृतयः प्रणीताः ॥३॥
ये सर्वकारपरिदत्तमहामहोपाध्यायाख्यचारुपदवीपरिवर्धिताभाः ॥
श्रीकृष्णमोहनकविः कविगौडसीतारामो बुधश्च शिवनाथकविस्त्रिवेणी ॥४॥
खिस्तेकविर्बटुकनाथवुधेन्द्रराजः श्रीरामरूप इह चित्रकविर्मनोज्ञः ॥
रामः कृपालुकविराट्च महादिदेवोपाध्यायसुन्दरकविर्बुधसार्वभौमः ॥५॥
रेवाप्रसादसुकविर्गुणिनां वरेण्यः षड्दर्शनप्रवणचन्द्रधरः कवीन्द्रः ॥
पन्तः सुबोधकविराट् नवरङ्गराजारामौ कवी च शिवदत्तकविः प्रगल्भः ॥६॥
रामायणः कविवरो जटिलो मनीषी धीमान्कविस्सहृदयो व्रजनाथशास्त्री ॥
हृद्यस्वरोऽतिसरसश्च कवीन्द्ररत्नं श्रीगोरखो नवनवप्रतिभालवालः ॥७॥
एतोऽभिरामकवितारसभावबन्धसौन्दर्यसारसरसीकृतमानसस्य ॥
श्रीमालवीयसुकवेर्मुकुटस्य नित्यं पुष्णन्ति रत्ननिकरा इव काञ्चनाभाम् ॥८॥

अथैकादशस्सर्गः

श्रीमालवीयाननशोभमानं श्मश्रु प्रवृद्धं सुचिरं निरीक्ष्य ।
चित्रंविचित्रं स्वमनोऽनुरूपं नानाविधं भावमुवाहलोकः ॥१॥

लक्ष्म्याः पद्मासनं रम्यं परिकल्पयितुंमुखे ।
शुक्लं श्मश्रुद्वयं मन्ये पद्मपत्रद्वयं कृतम् ॥२॥

मालवीयमुखाब्जस्थलक्ष्मीसेवार्थमुद्यतम् ।
इदं श्मश्रुद्वयं मन्ये धवलं चामरद्वयम् ॥३॥

तस्यैव वदनाम्भोजरूपस्य मङ्गलात्मनः ।
पद्मालयागृहस्याग्रे द्वारपालद्वयंन्विदम् ॥४॥

कामक्रोधादिसंपर्काद्वाणीं संशोध्य तत्क्षणम् ।
समाख्यातुं सभामध्ये संमार्जनकुशाः किमु ॥५॥

मुखे पावकरूपे स्वेहोमेकार्येऽमृतान्धसा ।
मालवीयर्त्विजास्तीर्णा श्मश्रूणिकुशकण्डिका ॥६॥

मुखेरङ्गस्थले तस्यनर्तनाय सरस्वती ।
स्ववाहनं बहिर्धृत्वा प्रविष्टाकेलिमन्दिरम् ॥७॥

मुखाम्भोजस्थिता तस्याप्रतिरुद्धगतिस्तदा ।
श्मश्रुव्याजात्सपक्षा किं वाणी जाता विहङ्गमी ॥८॥

द्वौ सुपर्णासखायौ किं मालवीयद्रुमेस्थितौ ।
एकस्तयोः फलं भुङ्क्त उदासीनः परः स्थितः ॥९॥

वीराणां माननीयस्य रणेषु सहयोगिनः ।
उत्साहपादपस्येवं शुक्लं किं पल्लवद्वयम् ॥१०॥
तस्यास्यमण्डलं रम्यंवचोऽमृतसरोवरम् ।
श्मश्रूणि स्फटिकस्येमास्सोपानानां परम्पराः ॥११॥
श्रीविष्णोः करसंप्राप्तपुण्डरीकपदं किमु ।
प्राप्तुं पद्मं जटां बध्वा पुण्यतीर्थे तपस्यति ॥१२॥
लक्ष्म्या अधरसादृश्यमाप्तुमत्र तपोभुवि ।
प्रवालं पर्णशालायां दीर्घकालं तपस्यति ॥१३॥
पाश्चात्योपप्लवत्रस्ता शरण्यं तन्मुखं श्रिता ।
शुक्लवेणीयुतेयं किं वृद्धा प्राचीनसंस्कृतिः ॥१४॥
पुण्यं साक्षात्स्वरक्षिम्योगतेभ्योदेवविष्टपम् ।
मालवीयमुखेतीर्थे पिण्डदानं चिकीर्षति ॥१५॥
मालवीयमुखाम्भोजे तीर्थराजे मनोहरे ।
चिरं विष्णुपदध्यानात्पुष्पितः किं तपस्तरुः ॥१६॥
पुष्पिते शाल्मलीवृक्षेधवलोऽयं शुकः शमी ।
जन्मान्तरेशुकपित्वं किं वाञ्छति तपोव्रतैः ॥१७॥
प्रसन्नादेववाणीयं विद्वदानन्दहेतवे ।
नृत्यतीव विलासैः किं धवले पटमण्डपे ॥१८॥
सर्वेषामेवबन्धूनां दुष्कर्मफलभोगिनाम् ।
अत्यन्तपावनत्वाय मन्त्राक्षतकदम्बकम् ॥१९॥
रङ्गमञ्चेमुखाम्भोजेसरस्वत्या मनोहरे ।
पुण्डरीकपलाशानां किमु वन्दनमालिका ॥२०॥
अस्पृश्यजनतोद्धारे सर्वथा पापशोधिनः ।
नमोनारायणायेति मन्त्रस्याक्षरमालिका ॥२१॥
यावकारक्तचरणा कमला श्मश्रुमण्डपे ।
विवाहेहरिणा सार्धं भ्रमन्ती यज्ञपावकम् ॥२२॥
प्रियव्याख्यानसंदात्रेमुखाब्जायास्य किं मुदा ।
मुक्ताहारमयं दत्तं भारत्या पारितोषिकम् ॥२३॥
नृत्यकाले विलासैः स्वैं हावभावसमन्वितैः ।
वाणीदेव्या जवोत्क्षिप्तं दिव्याम्बरमिदं नु किम् ॥२४॥
शरीरं चास्य दुग्धाब्धिर्मुखं सम्पूर्णचन्द्रमाः ।
यतः श्मश्रुच्छलादत्रस्मितज्योत्स्ना प्रकाशते ॥२५॥
मुखाम्भोजेऽस्यवाग्देवीहिमाच्छन्नगिरिस्थले ।
प्रागल्भ्यमधिकं योगैः किं वाञ्छति तपस्यया ॥२६॥
भारत्या अक्षमाला किं किं तच्छ्रवणकुण्डलम् ।
किं वाणीसुरभेः पुच्छं किं तस्या हारमण्डलम् ॥२७॥

मालवीयेन दत्तोऽयं स्वकीये वदनाम्बुजे ।
स्वागतार्थं सरस्वत्याः पुष्पाञ्जलिरयं किमु ॥२८॥
शुभ्रे श्मश्रुलताकुञ्जे रसिकेव सरस्वती ।
वीणांकरेणसानन्दं वादयन्तीव दृश्यते ॥२९॥
भारतीभवनस्येयं किं वा प्राकारमालिका ।
किं सुधासरसीसीमा मञ्जुलाकुमुदोज्ज्वला ॥३०॥
भक्तवृन्दार्पिताशुभ्राकिमियं पुष्पमालिका ।
किमियं पुष्पितारम्या हिन्दूविटपिवाटिका ॥३१॥

श्रीमालवीय नासिका वर्णनम्—

नेत्रद्वयीप्रियसखीपरिलाल्यमानाभ्रूवल्लरीपरिनियन्त्रितसाधुभावा ।
नासाच्छलेन वदनेऽस्य विराजमाना किं कान्तिपट्टमहिषी मुखमण्डलस्य ॥३२।
किं भाग्यसंपदधिदेव्युपधानकं वा किं योगिराजपरिलक्षितसिद्धिलक्ष्मीः ।
नृणां मनोहरिणबन्धनकीलकं वा क्रीडाविनोदसुषमाशुकसुन्दरीयम् ॥३३॥
किं पूर्णविश्वविजयेच्छुकमान्त्रिकस्य श्रीयन्त्रलेखपरिभूषितहेमपट्टः ।
रात्रिन्दिवं सततरक्षणजागरूकनेत्रद्वयप्रहरिवारितविघ्नबाधः ॥३४॥
नेत्रद्वयीसततमन्थरचाल्यमानसत्तालवृन्तसमपक्ष्मसुखाप्तनिद्रा ।
साक्षाच्छ्रुतिद्वयकृताञ्जलिभक्तिभावाजिह्वानिरन्तरकृतस्तुतिशक्तिदेवी ॥३५॥
तेजोऽद्भुतं नयनयोर्यदिवीक्षितंस्याद्दृष्टिर्भवेत्प्रतिहतानयनद्वयस्य ।
तद्वारणाय विधिनारचितैकभित्तिर्मध्येमुखंनयनयोः प्रतिबन्धदण्डः ॥३६॥
नासास्यमञ्जुलसरोवदनप्रतिष्ठा लज्जास्वरूपपरिरक्षणदेविकेयम् ।
हानिर्भवेन्नहिकथञ्चिदितीवमत्वाप्रत्यक्षमक्षि युगलस्यकृता विधात्रा ॥३७॥

श्रीमालवीयोत्तरीय (डुपट्टा) वर्णनम्

मालवीय द्विपट्टोऽयं शाखाद्वयमिषेण किम् ।
चतुर्मुखत्वसंसिद्ध्यै भुजयुग्ममिदं परम् ॥३८॥
मालवीयोत्तरीयस्योभयप्रान्तच्छलेन किम् ।
विवेको विनयश्चैवोभयपार्श्वे सदा स्थिरौ ॥३९॥
देशविख्यातवीर्यस्यामितमूल्यस्य धीमतः ।
तस्य पार्श्वद्वयेलग्नं देहसंरक्षकद्वयम् ॥४०॥
तपः प्रभावसिद्धस्य द्विजराजस्य मानिनः ।
ऋद्धिस्सिद्धिस्स्वयं तस्योभयपार्श्वे सुसंगते ॥४१॥
राजनीतिप्रवीणस्य विद्यायां तु महागुरोः ।
एकतो राजलक्ष्मीस्सा परतस्तु सरस्वती ॥४२॥
देहकार्यसमासक्तं भुजद्वयमवेक्ष्य सः ।
अन्यत्करद्वयं चक्रे प्रेमालिङ्गनहेतवे ॥४३॥
पद्मानामिवसुप्तानां नृणामुल्लास हेतवे ।
सवितुस्सर्वसम्पत्तेः प्रत्यूषे किरणद्वयम् ॥४४॥

द्विजिह्वजिह्मगामित्वदोषहीनौ भुजङ्गमौ ।
तस्यकण्ठे समासक्तौ शङ्कराशङ्कया किमु ॥४५॥
श्रुतिस्तुदक्षिणे पार्श्वेवामे पार्श्वेस्मृतिस्तथा ।
वार्धक्ये बललाभाय यष्टिके द्वे विराजिते ॥४६॥
भुजद्वयमपर्याप्तं भिक्षाग्रहणकर्मणे ।
इतिमत्वेव किंचान्यद्भुजद्वयमिदं कृतम् ॥४७॥
आसीद्भुजद्वयं पूर्वं भिक्षादानायविह्वलम् ।
अधुनान्यद्द्वयं जातं भिक्षाया ग्रहणाय किम् ॥४८॥
इत्यद्भुतद्युति सुवेषसमुज्ज्वलाङ्गो रत्नावतंस इव भारतमण्डलस्य ।
गच्छन्स विप्रनृपदर्शनलालसोऽयं दूराद्ददर्श मिथिलाधिपराजधानीम् ॥४९॥

इत्येकादशः सर्ग

ये दुग्धपानीय विभागवुद्धया कुर्वन्तिनूनं सदसद्विवेकम् ।
सरस्वतीवाहनराजहंसा महाजनास्ते कवयो जयन्ति ॥१॥
संसारदुःखपरितापभृतां नराणां चेतस्सु शीतलतराः कवितारसास्ते ।
चन्द्रातपन्ति घनचन्दनकर्दमन्ति मुक्तागुणन्ति हिमवारिनिषेचनन्ति ॥२॥
विष्णोः पदाब्जमकरन्दसुधायमानमन्दाकिनीसलिलमञ्जुलवाक्प्रसारैः ।
ये मानसेषु भवतापजुषां नराणां शैत्यं नयन्ति भुविते कवयो जयन्ति ॥३॥
वीणानिनादमधुरस्वरकोमलानां भव्यैस्सदा नवरसैः कवितावलीनाम् ।
उत्कर्णतां पथिचलन्तमपीष्टलाभाद्ये प्रापयन्तिकवयः खलुतेऽभिवन्द्याः ॥४॥
साहित्यसुन्दरसुधारसपानगोष्ठी सम्यग्रसग्रहणदीक्षितशेमुषीकः ।
साहित्यसारसरसीसरसीरुहाणांनालाग्रपुष्टतनुवैभवराजहंसः ॥५॥
साहित्यवैभवमनोहरशुद्धमुक्ताहारावलीकिरणदीपितकण्ठभागः ।
काव्यारविन्दमकरन्दसुधाशनानां पादाभिवन्दनरतः कविकुञ्जराणाम् ॥६॥
श्रीकालिदासकवितासहकारवल्लीपुष्पप्रभूतरजसापरिलिप्तगात्रः ।
गङ्गाधराख्य कविपुङ्गव शास्त्रिकाव्यभास्वत्करैं विकसिताननपङ्कजोऽहम् ॥७॥
वाराणसीसंस्कृतविश्वविद्यालयीयसाहित्यविभागसिन्धौ ।
अध्यक्षचन्द्रत्यधुनासलीलं श्रीमालवीयः कवितांशुजालैः ॥८॥
मिश्रो द्विजेन्द्र इहगीष्पतिनिर्गुणात्मा खिस्ते सुधीर्वटुकनाथकवीन्द्रवर्यः ।
देवोमहान्बुधवरश्च सहैभिरद्य श्रीमालवीय इह राजति पूर्णचन्द्रः ॥९॥
प्रगाढ़तिमिरच्छटापिहितसत्पदार्थव्रजप्रकाशनधुरन्धरो बुधसरोजसंजीवनः ।
स संस्कृतवचः करैर्हरपुरे समुद्योतितो द्वितीय इव भास्करोजयति विश्वविद्यालयः ॥१०॥
स्वधर्मस्योच्चेता शिविरिव दृढ़ः संस्कृतवचः
प्रचेता संचेतासुरतरुरिवोद्यत्सुमनसाम् ।
महात्मा पुण्यौका उपकुलपतिर्यस्य विपुलं
विधत्तेकल्याणं बुधसुरतिनारायणमणिः ॥११॥

यत्र प्रशासतिमणौसुरतौदयालौ नारायणेन सदृशे कविकल्पवृक्षे ।
तत्संश्रिताबुधसुमैरिहसंस्कृता वाग्वल्लीदिशः सुरभितास्सकला स्ततान ॥१२॥

अथ द्वादशः सर्गः

संप्राप तां मिथिलाधिपराजधानीं साक्षात्सुरेन्द्रनगरीमिवभासमानाम् ।
कान्तादिभोग्यबहुमूल्यपराध्यर्वस्तु भाराद्दिवोनिपतितामिवलेऽस्मिन् ॥१॥
यत्र प्रभूतविभवे मिथिलानगर्यां रामेश्वरो नृपवरो नितरां रराज ।
आखण्डल स्सुरपुरीव समृद्धिशाली सूर्योदिवीवकमनीयरुचिप्रवाहः ॥२॥
एनं विहायगिरिनिर्झरिणीजलेषु कर्पूरचन्दनसुधासरसीषु तासु ।
दैन्यप्रचण्डदिनकृत्प्रबलाभितापः शैत्यं ययौ न सकले भुवने जनानाम् ॥३॥
अत्यन्तपिच्छिलपथे करिदानवर्षैर्भेरीस्वनैश्चवधिरा रजसा कृतान्धाः ।
जाने न संभ्रमवशादरयोऽस्यराज्ञो युद्धाङ्गणात्कथमरं प्रपलाय्य जग्मुः ॥४॥
उष्णीषशुभ्रकिरणद्विगुणायमानहासप्रभाकुसुमिताखिलदिग्विभागः ।
उत्तुङ्गबन्धुरहिमाचलराजराजो ह्यध्यास्यमानइहमूर्ध्निविधूदयेन ॥५॥
उष्णीषबन्धनमिषाच्छिरसि प्रकाण्डं य स्संदधातिमकरध्वजसिद्धमर्चिः ।
यस्य प्रचारमभिवाञ्छति योहि विज्ञस्तं सर्वदाशिरसि धारयति ध्रुवं सः ॥६॥
उष्णीषबन्धनमिषात्स्फुटफेनहासलक्ष्मीं सदैव दधतीभिरुपास्यमानः ।
अभ्युल्लसद्बहलबुद्बुदराजमान विद्यानदीभिरभितोऽम्बुधिवत्स रेजे ॥७॥
स्नेहादिहागतममुष्यगुणार्णवस्य विद्वत्सुनेत्रकुमुदोत्सवहेतुमिन्दुम् ।
द्रष्टुं कुतूहलवशादिव रोहिणीयमुष्णीषकान्तिकपटेन समाजगाम ॥८॥
यस्य प्रतापतपनेज्वलितेऽभितोऽपि सर्वाः प्रजास्तमनुरागवशाद्भजन्ति ।
और्वाग्निदाहमनपेक्ष्यरसानुबन्धान्नद्यो विशन्ति तरसाम्बुधिवीचिभङ्गम् ॥९॥
यस्य प्रतापोष्मभि रद्यसम्यग्रुन्धद्भिराकाशमहो दिगन्तान् ।
दिक्पालदन्तावलदाननद्यो जम्बालभावं दधिरे नितान्तम् ॥१०॥
प्रतिक्षमापाल मनुव्रजन्ती मम्लौ श्रमेण प्रियराजलक्ष्मीः ।
सा तस्य बाहू परिरभ्य भूयो गमागमक्लान्तिमधश्चकार ॥११॥
वृषाङ्कतायामपि भूतिमत्त्वेऽपीशोऽस्य नो साम्यमुपाजगाम ।
राजोत्तमाङ्गे धृतपाद एष तत्पादसंभूषितमस्तकस्सः ॥१२॥
आबाल्यतारुण्यजरं जनानां मुदे स रामेश्वरसिंहराजः ।
बालोयुवा वा स्थविरोऽम्बुजानां रविर्विकासाय न कल्पते किम् ॥१३॥
शेषेण या किल धृता सततं फणाभि
र्या दिग्गजैस्स्वशिरसा कमठाधिपेन ।
पृष्ठेन या स्वदशनेन वराहमूर्त्या
पृथ्वीं स तां सहृदयो हृदयेन दध्रे ॥१४॥
तस्यान्तरस्यामृतयासुवाण्या माधुर्यगाम्भीर्यगुणान्वयेऽपि ।
रिक्तान्तरङ्गत्वविरोधिधर्मात्सादृश्यमायाति कथं मृदङ्गः ॥१५॥

शब्दस्य नूनं समवायिकारणं निर्धारितं विष्णुपदं विपश्चिता ।
अतो मृदङ्गी मधुरोऽपि मृत्कृत स्तदीयवाचा समतां न गाहते ॥१६॥
कलावती मानसरञ्जनी च सद्ब्रह्मनादस्य सुसाधिनी च ।
नियन्त्रितत्वाद्दृढशृङ्खलाभिर्वीणा तदीयं न वचोऽतिशेते ॥१७॥
सर्वाङ्गरम्यासरलाप्यदोषा प्रियस्वराप्युत्तमवंशजाऽपि ।
स्वच्छिद्रबाहुल्यविशेषदोषाद्वंशी न तद्वाक्समतामुपैति ॥१८॥
रत्नाकरत्वेऽपि रमालयत्वेऽप्यगाधगाम्भीर्यगुणाश्रयेऽपि ।
लावण्ययोगेऽपि न तस्य साम्यं क्षारत्वदोषाद्विदधे समुद्रः ॥१९॥
अपूर्वलावण्यविभूषितोऽपि मनोमहामोहकरोऽपि शश्वत् ।
शिवे महाद्वेषविशेषदोषान्न तस्य सादृश्यमुपैतिकामः ॥२०॥
कर्पूरशुभ्रोऽपिदिवङ्गतोऽपि दूरं समुद्रादपि निर्गतोऽपि ।
हालाहलश्यामकलङ्कदोषात् तत्कीर्तिसाम्यं न जगाम चन्द्रः ॥२१॥
विद्याविवेकादिसमन्वितोऽपि सद्धर्मबोधस्मृतिपारगोऽपि ।
चन्द्राहृतस्त्रीत्वमहाकलङ्कात्साम्यं न तस्यैव गुरुर्जगाम ॥२२॥
बुद्धेः परं पारमुपागतोऽपि यः कूटनीत्यादिसमन्वितोऽपि ।
गुरुत्वयोगान्महिषासुरस्य न तेन साम्यं कविराप किञ्चित् ॥२३॥
स्वरूपदुर्धर्षतयाऽन्वितोऽपि शब्दप्रसूतिप्रथितोऽपि लोके ।
शून्यत्वदोषाद्धृदयस्य येन न साम्यमाकाशमुपाजगाम ॥२४॥
तं राजराजमनुवीक्ष्य स मालवीयश्चित्तप्रसादमधिकं समवाप सद्यः ।
इन्दोः कलां विरहितामिववारिवाहै मुंक्तालतां प्रकटितामिव धूलिजालैः ॥२५॥
स्पष्टामिव त्विषमशीतकरस्य मूर्ध्नीश्लिष्टामिवश्रियमजस्यहृदिस्थिराभाम् ।
अङ्गीकृतामिव मुदं सफलप्रयासैः प्रीतिं परामिवमहाजनचित्तजाताम् ॥२६॥
सम्मानपङ्क्तिमिवमञ्जुगुणोदयेन विद्वज्जनै विरचितामिव हास्यशोभाम् ।
संपद्भिर्विहसितामिवगेहभूमिसस्यैर्हरिद्भिरखिवर्द्धितकूलकान्तिम् ॥२७॥
अब्धेः सुधां प्रकटितामिवनिर्जराणां पूर्णप्रयासनिकरैर्मथनान्नितान्तम् ।
सोमाग्निदीधितिमिवस्फुरितां घृतेन हीरप्रभामिव कृतामधिशाण मन्याम् ॥२८॥
दृष्टां त्वरानुपहितामिव कार्यसिद्धिं वाणीमिवातिकटुतारहितां मनोज्ञाम् ।
वापीं प्रफुल्लकमलैरिव शोभमानां नीतां परोन्नतिमिवात्मगुणैः प्रतिष्ठाम् ॥२९॥
विष्णोः कथामिव सुसंगतिभिर्बुधानामिच्छां सुसिद्धिनिकरैरनिरुद्धवेगाम् ।
सूर्यप्रभाविकसितामिवपङ्कजालीं हृष्टां द्विरेफपटलीमिव सौरभेण ॥३०॥
मुक्तामनल्पमिहिकाभिरिवार्कदीप्तिं विद्यामिवाबलयितां विनयावलीभिः ।
सम्मानितमिव सुयुक्तिपरम्पराभिर्वाक्यावलीमृषिगणैः कथितां विभान्तीम् ॥३१॥
नक्षत्रमण्डलसुधांशुकरोपलिप्तां वैभावरींरुचिरकान्तिमिव प्रसन्नाम् ।
शुद्धां रजोभिरभिमानवचित्तवृत्तिं व्योमच्छविं सुरुचिरामिव धूलिमुक्ताम् ॥३२॥
नम्रस्य सच्छविमिवार्जुनशौर्यसिन्धोः पादान्तिके भगवतः समुपस्थितस्य ।
शिष्यच्छविं गुरुजनान्तिकवर्धमानां भक्तिप्रभावबहुलामिव राजमानाम् ॥३३॥

छायामिवोष्णलहरीभिरुपप्लुतानां नृणां प्रसादजननीं घनपादपस्य ।
संदेहराजिभिरिवाननुवर्त्यमानां विद्यां पुनः पुनरपि प्रविचिन्त्यमानाम् ॥३४॥
निर्भत्सनाविरहितामिव दानशैलीं सत्काररराजिपरिपूर्णसमग्रशोभाम् ।
मैत्रीमिव प्रणयमानपरम्पराभिर्जातां दृढां सुकृतिनामतिसज्जनानाम् ॥३५॥
निन्दावचःकणपरम्परया विहीनां प्राशस्त्यवाक्यसहितामिवसत्प्रसिद्धिम् ।
रोगाभिरोधपरिभूतरुजं चिकित्सां श्रद्धामिवाप्रतिहतां श्रुतिमूलधर्मे ॥३६॥
संधारितां धृतिमिवाविकृतां प्रवाहैः स्नेहप्रजातविषयोत्कलिकावलीनाम् ।
श्रीखण्डपङ्क्तिमिवसर्पगणाप्रसक्तां मेधाभिर्वर्धिततरोरिवपुष्पपङ्क्तिम् ॥३७॥
मालामिवोचितपदेषु विभूष्यमाणामङ्कं गतां श्रियमिवातुलितप्रयासैः ।
मुक्तिश्रियं प्रकटितामिव विष्णुभक्त्याभक्तप्रसादजननीमिव कृष्णलीलाम् ॥३८॥
दिव्यच्छटां मदनमोहनमालवीयमूर्तिं समीक्ष्यपुरतस्सुजनैकबन्धुः ।
रामेश्वरोऽपि नृवरो मिथिलाधिराजोभक्त्यातिविह्वलमनाः प्रणनाम भूयः ॥३९॥
राजन् सदाविजयता मितिवाक्यपूर्वं बद्धाञ्जलिस्सनृपतिं मनसाऽभ्यनन्दत् ।
द्वावप्यनेन विधिनाऽभवतां कृतार्थौ प्रीतिस्सतामनुपमाऽतिविचित्ररूपा ॥४०॥

ततोराज्ञाप्रोक्तं तमिह खलुसंबोध्य कृतिनं तवेदं गाम्भीर्यं सुकृतशतलभ्यं तव वपुः ।
प्रगल्भश्चोत्साहो हरिचरणपद्मेष्वतिरतिः । विचित्रंसौजन्यं हृदयहरणं प्रीतिकरणम् ॥४१॥
स्वभावे सारल्यं जनहितकरी ते मतिरहो प्रभावस्तेलोकेऽद्भुततर उदस्तारिनिकरः ।
विकारो नो चित्तेऽप्यपकृतिपरे दुर्जनगणे न पश्यामित्वंको बहुतरविचारैरपिकृतैः ॥४२॥
अपारस्संकोचोनिजहृदयपीडादिकथने न जानेकोमन्त्रस्तवचसि चित्तद्रुतिकरः ।
अखण्डं धीरत्वंत्वयि विषमयोग्रस्थितिगते विधानं तेऽपूर्वं विधिरपि न वेत्तुं प्रभवति ॥४३॥

सरस्वत्या नित्यं चरणयुगलाम्भोजरजसां
प्रसादात्स्वच्छन्दं लसति मधुरा यस्यभणितिः ।
सदा श्रोतुं द्रष्टुं वचनरचनां रूपमथ ते
रसज्ञानां वृन्दं ह्यहमहमिकां तस्य कुरुते ॥४४॥
सुकीर्तिस्ते शुभ्रादिशिविदिशिशाखेव वितता
वचोहृद्यं पुष्पं फलमपि च सौहार्दमधिकम् ।
समाश्लिष्टा नित्यं सहृदयबुधेन्द्रैर्मधुकरै
र्ममस्वान्तोद्यानं सुरभयति ते रूपलतिका ॥४५॥
सुधाद्राक्षासाक्षात्करणपटुदीक्षाऽतिचतुरा
प्रसन्ना ते वाणी ध्वनिगुणगणालङ्कृतवपुः ।
अपूर्वेयं धन्या तववदनवीणाऽति मधुरा
प्रयाता कर्णान्तिस्सकलमिह विस्मारयतिमाम् ॥४७॥
पदन्यासै रम्यैर्मृदुतरविलासै रसभृतैः
घनानन्दं सूतेवचनरचनातेऽमृतसमा ।
प्रणम्योलोकानामिह बहुकृपातः खलु भवान्
न जानीमः कैस्तैर्ममसुकृतजालैरुपगतः ॥४८॥

अहोश्रेष्ठंभाग्यं मयदिह हर्म्ये विधिवशात्
भवान्कल्याणानि प्रथयितुमनाः कानिभुवने ।
समायातः श्रीमान् दिनकर इवोद्यन्दिनमुखे
त्वदीयां कां सेवां कथमिह करोम्यद्य भगवन् ॥४९॥
श्रीमालवीय इहसम्प्रतिसंजगाद श्रुत्वा मनोरसवचो नृपतेर्वरस्य ।
आकर्ण्य वाक्यमखिलं मधुसम्भृतं ते राजन्मनोममरसाम्बुनिधौनिमग्नम् ॥५०॥
आनन्दमेवखलु या सततं प्रसूतेसाऽद्यैव ते सकलविस्मयकारिणीवाक् ।
उत्पद्यतेजगतिकोऽपि स एकएवयस्योक्तिषु स्फुरति सर्वमनोरमोऽर्थः ॥५१॥
प्रीतिंतनोतिभवदीयमुखारविन्दसौन्दर्यसारसमुदायमयी द्युतिर्नः ।
याऽऽभातिवेगकवलीकृतगाढदुःखध्वान्तासुधांशुरुचिरत्विडिवापतन्ती ॥५२॥
प्रेमाम्बुभिस्तवसदा नितरां समृद्धा आशालताहि हृदयोपवने स्फुरन्त्यः ।
किं किं फलं न ददति प्रचुरं यथेष्टं तेभ्योजनेभ्यइहयेत्वयिबद्धरागाः ॥५३॥
कीर्त्तिर्विभाति तव शङ्करहासशुभ्राकर्पूरपूरपरिपूर्णसुधांशुगौरी ।
कैलासकुन्दसितकैरवदन्तिदन्तमुक्तावदातरुचिरुज्ज्वलहीररोचिः ॥५४॥
ते कल्पपादपमपि स्तुवतेनितान्तं स्निह्यन्तितेहि सहसागवि कामधेनौ ।
चिन्तामणिं सकललोकललामभूतं वाञ्छन्ति ते सुकृतिनोनिजकामतृप्त्यै ॥५५॥
ते पूर्णिमोदितसुधांशुमपिस्मरन्ति तेषां मनश्वरमतेरतिवल्लभऽपि ।
दृष्टो न यैर्हिसकलेप्सितदातृवर्य्योरामेश्वरोनरवरो मिथिलाधिराजः ॥५६॥
किं ते गुणानखिललोकविभासमानान्संवर्णयामिसकलानधुनाक्रमेण ।
कः स्यात्क्षमो गणयितुं जलवृष्टिविन्दून्तारागणानथ च धूलिकणान्समग्रान् ॥५७॥
वाराणस्यां विश्वनाथान्नपूर्णासांनिध्येनश्लाघ्यगङ्गासुकूले ।
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य निर्माणार्थं निश्चयोमे प्रजातः ॥५८॥
एतत्पवित्रसुमनोरथपूरणाय हे राजराज ! तवसन्निधिमागतोऽहम् ।
त्वं ब्राह्मणोऽस्ययनृपोभव मे सहायो विद्याविवृद्धिकरणाय हि विप्रजन्म ॥५९॥
अशक्तिकस्सज्जनसङ्गमेन करोति दुस्साध्यमपीह साध्यम् ।
पुष्पावलम्बेन शिवस्य भाले पिपीलकश्चुम्बति चन्द्रबिम्बम् ॥६०॥
एवंमालवपुङ्गवस्य वचनं श्रुत्वासराजाऽवदत् ।
कार्यं तेऽति मनोरमं सफलतां शीघ्रं ध्रुवं यास्यति ॥
प्राज्यंवित्तमहंददामि भवता साकं नृपांश्चेतरान्
याचिष्ये विपुलंधनं बुधवर त्वं संप्रसन्नोभव ॥६१॥

इति द्वादश सर्गः समाप्तः ।

यद्यपिदिशि दिशि कवयस्तरवश्चान्येऽपि पारिजाताद्याः ।
तदप्यारामानन्द ! पिकहृदयेऽसि त्वमेव सहकार ॥१॥
कतिपल्लविता न पुष्पिता वा तरवः कवयोऽपि काव्यकुसुमर्त्तौ ।
मदनस्य तु मोहने नृणां सहकारो सहकारमालवीयः ॥२॥

MAHAMANA'S INTERPRETATION OF HINDU PHILOSOPHY

S. P. DUBEY

U.G.C. Research Fellow, Deptt. of Indian Phil. and Religion

In order to have a philosophy it is not necessary that a person should have gone through a particular training or schooling. There is a sense in the saying that every individual has got his own personal philosophy. By philosophy here is not meant the traditional systems of thought produced by different thinkers. We are concerned more with the broader meaning of the term rather than the popular one. Philosophy is the way of life and thinking. No one can disown his own ideas about life and the world. That is why it is true that everyone has got a philosophy. Hence the option is between a good philosophy and a bad philosophy, not between a good philosophy and no philosophy. Keeping this factor in our view, we are going to consider the philosophy of Pt. Madan Mohan Malaviya. Though Malaviyaji never claimed to be a philosopher, his life and thought can be studied in the philosophical perspective which may be of immense interest to those who appreciate Malaviyan way of life. The life led by Mahamana is predominently a Hindu life. This is the reason why the title of this essay remains as above.

A way of life necessarily implies a goal to be reached. From very early times we find that some values of life have been recognized. There may be differences of opinion among thinkers regarding the importance of one value or the other, but every Hindu thinker has accepted some values or ends which are common to all. Broadly speaking, there are four ends or *puruṣārthas* of human life. They are *artha, dharma, kāma* and *mokṣa.* Of these four, *artha* and *kāma* are lower values which, when realized, bring immediate satisfaction. They may be called the ends of *pravṛtti mārga* or the way of

attachment. The other two, *dharma* and *mokṣa*, are spiritual values and may be called the ends of the *nivṛtti mārga* or the path of detachment. Of the two spiritual values, *dharma* was given supremacy in old literature. Mimāṁsā upheld it as the sole value. But gradually *mokṣa* came to be regarded as the only ultimate value (*parama puruṣārtha*). Whatever may be the case, it is beyond doubt that there were two ways of life—the way of attachment and the way of detachment. This two-fold way of life can be traced throughout Indian sacred literature. In the hymns of the *Ṛg Veda* we find prayers to the Gods for prosperity in life here and hereafter. We also find descriptions of asceticism practised by saints with long hairs and coloured garments. In the *Mahābhārata* Bhīmasena insists on the need of active life while Ajagara glorifies renunciation. The most explicit mention of the concept of pravṛtti is to be found in the *Gītā*. This work has given wide and permanent currency to the concept by presenting it in a splendid setting.

To understand the nature of philosophy as Malaviyaji conceived it, it is necessary to understand the exact bearing of the *Gītā* on the concept of Action or *Karma*. The *Gītā* does not support the ethics of the ascetics. The theory of actionlessness supported by the Buddhist thinkers has been interpreted here in a positive way. True inaction is action without the desire for the result. *Naiṣkarmya* or abstention from action, is not the true law of morality, but *niṣkarma*, or disinterestedness.[1] It is karma or action which keeps up the circuit of world and all of us should do their best to keep it going. We have to work for the *lokasaṁagraha*. Action is indispensible. We cannot dispense with activity till we attain freedom. But we have to work in such a way that the *karma* does not bind us. Desireless and impersonal work for the sake of humanity and rest of the world does not bind us.[2] If we analyse

[1] *The Gīta*, XVIII. 49

J. Krishnamurti has very aptly remarked: Inaction is not the opposite of action, it is quite different state............ Inaction is death. See his *Commentaries on Living*, p. 176.

[2] *The Gītā*. IX. 9.

the words *sannyāsa* and *tyāga*, the meaning will become clear. Sannyāsa is renouncing all interested acts; tyāga is giving up the fruits of the act.[1] It is the latter which has been emphasized and recommended by the *Gītā*. This means that the *Gītā* does not ask us to abstain from the daily bussiness of our life. A deadlock in the process of the world can not be an end of any true philosophy. This will be, in the words of Sri Aurobindo, "a great bankruptcy of Life."[2] But the great saint of Pondichery is equally conscious of the other hemisphere. "In Europe," he says, "the fullness of riches and the triumphant mastery of this world's powers and possessions have progressed towards an equal bankruptcy in the things of the Spirit."[3] But the denial of the materialist is less enduring and less effective than the absorbing and perilous refusal of the ascetic. The two negations of the matrialist and the spiritualist have direct bearning on the problem of realism and idealism which are the chief currents of perennial philosophy. Let us briefly consider these two currents before going to other aspects of the Hindu philosophy.

Roughly speaking, realism is a philosophy which takes the world of name and form (nāma-rūpātmakam jagat) to be real. Except the Advaita Vedānta of Śaṅkarācārya, all the systems of the Vedic philosophy are popularly known as realistic. Realism is akin to materialism. Some interpret realism as the philosophy which reflects on Reality. In this sense every philosophy will be realistic, since no philosophy tends to search for the unreal. But this meaning of the term realism is secondary and unpopular. So we have to stick to the first meaning. Whereas realism accepts the world to be real, idealism seeks for an ideal reality which this world does not possess. Idealism is said to be the attitude of mind which is prone to represent things in an imaginative light.[4] It is a dootrine which conceives of knowledge as a process in which the subject and object stand

[1] S. Radhakrishnan: "*The Theism of the Bhagavadgītā*, p. 74.

[2] *The Life Divine*, p. 11.

[3] Ibid. p. 11.

[4] J. H. Muirhead, in the Encyclopaedia Britanica.

in a relation of interdependence. According to Hegel all genuine philosophy is idealism. And it is surprising that most of the great philosophers of the world are idealists.

The charge against idealism that it denies the existence of the world is not justified. Idealism does not take away in the least the reality of anything which is considered as real by common sense or science. Far from substracting anything from the worldly existence, it makes clear that things have many other aspects of their life than those which are revealed to common sense or to science.[1] Idealism will go wrong when, and in so far as, it proceeds to assert that the world can not exist at all if not interpreted by mind. It must be clear enough by this time that Idealism does contain the elements of Realism and Realism also must be idealistic. A true philosophy must be reality-oriented. It must be realistic idealism or 'idealistic realism' if we can use the terms. There must be no difference between the realistic and the idealistic creed, in so far as the reality of the material world is concerned, for both there is a real world which is not the creation of the mind. If we look into the life of Mahamana Malaviya it will be clear that he always tried to give an ideal form to the real or present facts. Whatever was present in his days and whatever was within his reach was idealised in such a way that it became a guide line to the future generation of all the places. He had to work in a period of crisis. Western scientific developments were peeping through the gates of our country. But the orthodox Pundits were still self-contented in their own old pattern. Malaviyaji began an integrated approach to the problem and solved it in an ideal manner. Along with oriental studies of literature, philosophy and religion, he stressed the need of science and technology. The result was a harmonious development of the Banaras Hindu University in all directions.

The aim of Malaviyaji was to make India free. But the bondage or chain was two-fold. One was political and the other cultural. Gandhiji and his followers worked primarily

[1] A. C. Mukerji, *Self, Thought & Reality*, p. 37.

for breaking the former, Malaviyaji for the destruction of the latter. He started an educational centre in order to liberate Indians from the chain of ignorance and illiteracy. How far his aim was realized is for others to judge. But behind all his realistic approaches to the problems there was a theistic background which was always the source of inspiration and energy to him as well as to his fellow-workers. The temple-like monumental buildings symbolize the fundamental elements of Hindu architecture. The goddess of Learning (Saraswati) can be well seated only in temples. This idea seems to be lacking in the present architects of the University. The Hindu style of the Banaras Hindu University was given by Mahamana not with a sectarian or communal motive. His concept of Hindu religion was broad-based. Malaviyaji has defined Hindu religion in the following manner: "The religion in which the Supreme God has generated the four castes of *Brāhmin*, *Kṣatriya*, *Vaiśya* and *Śūdra* on the division based on qualities (*guṇa*) and actions (*kārya*) and in which are established the four stages of Brahmacarya, Gṛhastha, Vāṇaprastha and Saṁnyāsa which purify the life of man and contribute to the attainment of four ends (puruṣārthas) of *Dharma*, *Artha*, *Kāma* and *Mokṣa :* that best of all religions is called Hindu religion. Let all the persons who wish the well-being of the world preserve and propagate this religion[1]." Such an eternal religion (Sanātana Dharma) was the dearest thing on this globe for him. Dr. S. Radhakrishnan, while explaining the main features of this great religion, has remarked: "Hinduism is more a way of life than a form of thought.[2]" According to Malaviyaji this Sanātana Dharma has two aspects—one is metaphysics and the other is ethics. Though metaphysics is a necessary part of a religion, for Malaviyaji, the practical or ethical part of the religion was more important. He did not involve himself in theoretical controversies. He was more an actionist than a metaphysician and his thoughts are traceable in the writings now published[3].

[1] Prajñā—The Malaviya Centenary Vol. 1961; p. 4.
[2] S. Radhakrishnan, *The Hindu View of Life*, p. 55.
[3] See '*Malaviyaji Ke Lekha Aur Bhaṣaṇa*. B.H.U. 1962.

If we go through the writings and lectures of Malaviyaji, we shall come very soon to the conclusion that the religion which he accepted centres round God. In other words, he was a theist. Any religion or philosophy may be either theistic (Āstika) or atheistic (nāstika). Theist is a person who believes in some reality which is the controlling agency of the universe. In ancient days *Ṛta* was the governing factor of the movements of the world. After some time physical powers like air, water and fire were taken to be conscious forces. Gradually, these were endowed with separate identities and forms. As a result of this there sprung up a number of gods and goddesses. Brahmā, Vishṇu and Śhiva were chief among the gods; they represented the agencies of creation, preservation and destruction of the world respectively. Along side of these, Hinduism believes in a plurality of minor gods and goddesses also. To some of the Western scholars a religion of gods and goddesses in India appeared "as a rich and rather baffling tangle to myths, with endless gods and goddesses worshipped in countless forms". But such a view of Hindu religion is superficial. To quote once again Prof. Radha krishnan, "Hinduism is a movement, not a position; a process, not a result; a growing tradition; not a fixed revelation.[1]" Gods and goddesses in Hinduism are like waves of the ocean which is pervaded by the water which is unmoving like God. According to Malaviyaji, God is the only object which must be investigated and worshipped. That God cannot be seen through eyes. If we purify our mind and thought then only we can perceive Him :

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यानमानः ।।

The presence of God may be realised in two ways according to Malaviyaji. One may feel his presence within one's own heart (Hṛddeśa) ; one may also see Him in His creation particularly the living beings. A man may adopt one way or the other but God is present everywhere. Malaviyaji did not

[1] *The Hindu View of Life*, p. 91.

consider it his bussiness to offer proof for existence of God; according to him such a proof was really not necessary. And yet while lecturing to an audience, on such occasions as Ekādashi Kathā, he would graphically describe the order and beauty to be met with in the world that pointed towards an intelligent, rather omniscient, creator.[1] The regular movements of the planets and the stars, the regularity of the seasons, the wonderful mechanism of the living bodies and their organs, the extraordinary capacities and powers of man—all these to him were clear indications of the existence of an omniscient and omnipotent divinity. The God who has created the world must be conceived to be eternal, allpervading, blissful and omnipotent. As a matter of fact, our finite mind can not comprehend all the attributes and powers of God. We call that indescribable power by thousands of names like Īśvara, Parameśvara, Parabrahman, Nārāyaṇa, Bhagavāna, Vāsudeo, Śiva, Rāma, Krishṇa, God, Khudā, Allāh etc.[2] There is difference in words and languages, but the meaning is the same.[3] We can see here that Malaviyaji, like Mahatma Gandhi, was not a conservative or narrow-minded Hindu. His catholicity embraced all that was good in other religions also. Particular mention may be made of his appreciation of Christianity which he developed in contact with Dr. Basent.

For Malaviyaji, it was not enough to know and describe God through verbal symbols; the vital thing is the realisation of God in lived experience. Mahamana was, hence, a believer in the creed of *Bhakti*. He was a great admirer and devoted reader of the *Bhāgavata* Purāṇa. Through devotion alone one can see and realise God. Those who try to comprehend Him intellectually remain mere seekers. A philosopher is generally

---

1 Śaṅkarāchārya, while explaining the second apporism of the *Brahmasūtra* states that Brahman is the cause of origin, preservation and destruction of the world. He also states that this cause can be a conscious one and not an unconscious entity like the Prakṛti of the Sāṅkhya system.

2 Malaviya Centenary Volume, p. 10.

3 एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । (1/164/46)

a seeker, whereas a religious person is a seer. This seeing may be in man's own image, nevertheless it is seeing, realisation. He sees the Real or God through the eyes of the heart.

Malaviyaji's idea about God generally found expression in his mouth by references to the *Śrīmadbhāgavatam*. Following verses from that great text quoted by him express the idea of God :

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्सदसतः परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोस्म्यहम् ॥ २।९।३२
एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरंजनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥ १०।१४।२३
ततो हरौ भगवति भक्ति कुरुत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥ ७.७.५३.

In the beginning, truly I alone was in existence ; nothing else ; neither the subtle nor the gross things ; nor their cause Prakṛti ; afterwards, what exists is Myselt ; all this world is Myself ; what remains after Pralaya is Myself.

He is the one Ātman. Perfect Person of all eternity, real, self-luminous, endless and the first and foremost One, the permanent and undecaying one of uninterrupted blissfulness, untouched by darkness, perfect, destitute of a second, free from all conditions, immortal and ever blessed.

Therefore, O Dānavas, do you cherish devotion to the Almighty Lord Hari, who is the Supreme Ruler and Antaryāmin of all beings as in your own case.

He was also fond of quoting the following verse in this regard :

एकोदेवः सर्वभूतेषू गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च ॥ श्वेताश्वर
उपनि० ६.११.

He is the one God, hidden in all beings, all-pervading, the self within all beings, watching over all works, dwelling in all beings, the witness, the perciever, the only one, free from qualities.

One of the fundamental characteristics of the cult of devotion is the equal treatment towards all castes. In the

Kingdom of God no one is higher or lower. This idea influenced Malaviyaji also. Though he belived in the caste system of the society, he was of the opinion that the lower castes are also equally important for a harmonious society and they must be properly recognised. They are like the parts of a body without which life is not possible. When Malaviyaji started consecrating the lower castes on the bank of Ganga, some orthodox pundits thought that he was making revolutions in the field of religion. But Malaviyaji did his job inspite of furious criticisms and he supported his action by referring to the scriptures and authority. In his illuminating article. 'अन्त्यजोद्धार विधि' he has advocated the upliftment of the lower castes. There we can see the picture of Malaviyaji's soft and at the same time open heart. Though heaven is a temptation for every Hindu, Malaviyaji preferred the service of suffering beings to heaven. The following verse was as if his life-motto:

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

And this was the reason why, some days before his death, he said to his intimates that he should not be kept in Kashi when he would be expiring because he does not want liberation. He wanted to serve humanity in still another birth. A man of such a great ideal is really god among men or best among men.

What makes a man Man is, according to Malaviyaji, Shīla or uprightness. He said that we must be uprighteous in all our acts. Śīla is the best ornament for human being—

शीलं परं भूषणम् ।

What is needed at present is to follow the lines of Mahamana and work in a cancrete manner to serve the cause of humanity rather than to preach others while not practicing himself. Malaviyaji taught only those things which he did. There was no difference between his talk and act. And this made him great. Those who are associated with his life and with the Banaras Hindu University should do their best to make their life according to the wishes of Mahamana.

HINDU RELIGION IN THE PURĀṆAS

Dr. V. S. AGRAWALA

The Purāṇas are eighteen in number and contain four lakhs of ślokas in extent. It is a vast literature ascribed traditonally to Śrī Veda Vyāsa as their author. In India there is no other literature comparable to the Purāṇas in range of topics and in its influence which is far-reaching on the religion, philosophy, modes of worship and spiritual inspiration and faith of the people. It may be stated with truth that Hinduism is the religin of the Purāṇas and moulded by their techniques as a subtle influence on all its aspects. Many millions of men living in villages and cities owe their allegiance to Hinduism as propounded in the Purāṇas. We therefore owe it as a duty to inquire about the authorship, antiquity, contents and the inspiring ideals of the Purāṇa literature. In matters of religion the Purāṇas inculcate an eclectic system which is extremely elastic to suit the needs of all persons in society. This attitude is characteristically Indian which is unique in the world and which has exercised its benign influence on the entire religious tradition of India. In fact, the door of the Purāṇas was thrown wide open to all the religious disciplines ranging from the highest Vedic philosophy to the most primitive austric cults rooted in the soil. It is done with a broadmindedness that fills the Purāṇic descriptions with a super-gladenning atmosphere.

The antiquity of the Purāṇas goes back to the Vedic times. The Itihāsa-Purāṇa literature existed in the time of the Atharva-veda and there are many legendary elements in the Vedas that properly belong to the realm of the Purāṇas and have the same style. There is again a reference to the Itihāsa-Purāṇa-Vidyā which Nārada had learnt before he came to Sanatkumāra for instruction in higher Brahmaknowledge. In fact it is stated in the Purāṇas that Brahmā first created the Purāṇic literature even before he produced the Vedas. The meaning of this statement is that the metaphysical truths found in the Vedic Mantras

were first cast in the form of legends that belonged to the realm of the Purāṇas, and these must have been current in the legendary lore of the people in an extensive area from where they were taken into the Vedic Mantras. Such may be the great legends of Indra and Vṛitrāsura, Indra and Śambara, Indra and Namuchi, Rudra and his conflict with the demons, Aśvins and their stories of exploits about Soma, Sūrya and his wife Saraṇyū, etc. Behind all these tales some cosmogonical truths were implied from the Vedic points of view, but they were presented as stories which the Purāṇas have presented in amplified form.

About the authorship of the Purāṇas it may be said that they existed much earlier than Veda Vyāsa himself, but he organised this literature just as he compiled and classified the available Vedic Mantras into their respective Śākhās and Saṁhitās. It was an epoch-making literary task of which the credit goes to Veda Vyāsa, as the greatest doyen of Sanskrit scholarship in ancient times. But the chapter was never closed and the work of redaction he began was continued throughout, so that there was a number of Purāṇic authors known as *Vyāsa* in North India and as *Purāṇī* in Gujarat and Mahārāshṭra. We find frequent references to them in Sanskrit literature. It is clearly stated in the Vāyu Purāṇa (61.59) that the original Purāṇa-Saṁhitā consisted of four thousand verses from which many other Saṁhitās were compiled with additional material by subsequent authors so that to-day we have inherited a massive literature of eighteen Purāṇas comprising four lakhs of ślokas, that is, hundred times its original extent. Those who were responsible for this miracle of authorship and colossal amplification comprised a succession of the most brilliant poets and religious teachers who did much original thinking and incorporated a large number of new subjects in the corpus of the Purāṇic text. The over-riding condition was that the name of the original author Veda Vyāsa was to be retained throughout and under his aegis the new material was taken. This was an important rule which had been fixed in the Vedic Academy

that all the Saṁhitā texts and whatever literature was produced under an Academy should bear the name of the Founder-teacher and not of any subsequent author. In a way the literature belonged to the whole Academy and was named after it and no individual authorship was claimed. The Taittirīya Saṁhitā, Brāhmaṇa, Araṇyaka, Upanishad, and Prātiśākhya all bore the name of the Taittrīya Academy. Similarly the Purāṇa Saṁhitā was originally a text produced under the Vedic Academy of Pārāśarya Veda Vyāsa and was distinguished by his conventional authorship. Although factually there was a continuous addition of new matter and it was considered obligatory on new generations of Paurāṇikas to bring the text upto date from time to time. The belief in Vyāsa's authorship was maintained with uncompromising vigour and in fact the whole tradition of two thousand years no one ever thought or dared to disturb or question this. Dvaipāyana Vyāsa was also regarded as Vāchyāyana (*Ahirbudhnya-Saṁhitā* 12.17), son of Goddess Vāk or Sarasvatī, and an incarnation of Vishṇu whose authorship of the eighteen Purāṇas, Brahma-Sūtras, Mahā-Bhārata and Bhāgavata, was justly regarded as the most stupendous literary achievement in the annals of human history.

Purāṇic writers and those who listen to these texts as Kathā remained unconcerned as to the period when the texts were compiled. They were statements of eternal Dharma. But, the successive ages have left their clear impression on the Purāṇic texts and modern scholars have unravelled with critical acumen the different strata of historical and institutional material of which layers upon layers lie embedded in the corpus of the Purāṇas. It is a good thing in one respect that it shows the elastic nature of these compilations which have taken part in the untrammelled development of Hinduism.

Apart from historical questions, our major concern is to know the contents of the Purāṇas and how they vitalise the roots of Hinduism. According to an ancient definition the two major subjects of a Purāṇas are creation and dissolution, *Sarga* and *Pratisarga*. These are but two aspects of the same.

The complex problem of cosmogony or creation of the world and of the individual as twofold manifestations of the divine power are subjects of the highest importance in the Purāṇas. It may be said with some justification that the highest concern of the Purāṇas is to state their belief in the transcendent reality and to explain its nature. This is a theme which they broach in a hundred ways to speak of the glory of the one divine Lord who is the creator, preserver and destroyer of the worlds. The Purāṇas clearly believe that the ultimate reality is one. He is the supreme Soul, the Universal Lord, the one God without the second, whose transcendence none can compare. His might, glory and power are supreme. He is beyond nature, but also inherent in nature and its real master and cause. The basic doctrine of Purāṇic cosmogony (*Srishṭi Vidyā*) is that of the three Devas who represent the triadic pattern in manifestation. Brahmā, Vishṇu and Śiva are the three deities who are present in every living centre. They constitute the cyclic wheel resolving as Brahmāṇḍa Chakra. In abstract terms they are the three supreme principles of creation, preservation and dissolution, that is, a release of the world-building forces from an unmanifested point or tranquil substratum, maintaining those forces in a balanced condition and ultimately their withdrawal into the same source. As soon in the rhythm of time this law of coming and going, rising and setting with a stable interval between is operative everywhere. We know it from the time of Ṛigveda but the great merit of the Purāṇas consists in transforming the conception of the three deities, Brahmā, Vishṇu and Śiva. as the nuclei of devotional worship and investing each of them with an encircling mythology of great beauty and symbolical significance that has inspired religion, literature, art and recitations.

It may be noted that the Purāṇas maintain the supremacy of each deity in his own sphere or station so that each one trancendent as well as accompanied by the team of the three brothers, Brahmā, Vishṇu and Śiva. It is emphatically stated that they are all of equal rank and in the Puraṇic view any idea of their relatively superior or inferior position is inadmissible. Brahmā

is the creator of the worlds ; Brahmā signifies the ancient cocep-tion of Prajāpati, the Lord of all cratures and the maker of the worlds. Literally Brahmā represents the same idea as Brahma, that is, the principle of growth or inresistible emanation of dynamic power from its centre. This emanation is exemplified in the four directions which take the form of a *Svastika* and correspond to the form faces of Brahmā. The Lake in which Brahmā floats on his vehicle Haṁsa is Mānasarovara which symbolises universal Mind. The Haṁsa is the individual mind. Brahmā is thus the great principle of Buddhi or universal con-sciousness with which creation begins. The first act of Brahmā for initiating his creative activity is to set in harmony the two conflicting forces of cosmic energy symbolised as Madhu and Kaiṭabha. Brahmā is the genius of Yajña and Yajña implies a perfectly balanced system in which a field of energy is created with a controlling centre and as all-round regulation. This is said to be the region of the Devas who are brought into existence by the supreme intelligence or Speech of Brahmā named Vāk or Sarasvatī, that is alternatively spoken of as the Knowledge of the Vedas. Brahmā's vision and power are due to his Vedic Wisdom which is a synonym for the Universal Mind or the con-scious will to act as inspired by activated knowledge, Brahmā is said to have a *Brahma-Sabhā* attended by all the Ṛiṣis or arche-typal sages. It is stated that none can transgress the ordinances of Brahmā and that the immutable law of Karma has been establi-shed by Brahmā Prajāpati. The order of the cosmos which is seen in the revolution of time and space is the visible form of Brahmā's will or his Universal Karma.

A noteworthy feature about the mythology of Brahmā is that he is the guardian of both Devas and Asuras ; both may approach him and obtain his protection. The Asuras frequently propitiate him by the power of their Tapas and they exist by his sufference and no one wholly uproot them for all times and from all places. The meaning is that the Devas as light and the Asuras as Darkness must co-exist to cnstitute the tensional dualism of the cosmos ; otherwise creation would lapse into a stillness of equilibrium without expression of activity.

Brahmā is credited in the Purāṇas with having created the vast order of time whose durations become manifest as fourteen Manvantaras in the day-time of Brahmā and fourteen in his night-time, and one each in the two twilights (*Saṁdhyā-Kāla*), making up a total of thirty Manvantara periods. It is very surprising how a minute record of these astronomical periods of time has been maintained in the Purāṇas. The vast immensity of time and the measureless depths of space are a favourite theme of the Purāṇas and both appertain to the miracle of Brahmā's creative acitvity. It is said in a short story that Brahmā himself was not able to charter fully the extent of space created by him. He flew on his Haṁsa and did not reach an end, which means that even with the power of his mind he was not able to comprehend how big the cosmos is.

Vishṇu, the preserver, is the second great deity of the Purāṇas. There is hardly a Purāṇa that has not received Vaishṇava influences or been impressed with the Bhāgavata stamp of religion, philosophy and cult-worship. The Bhāgavata movement bestrided the whole country of which a comprehensive record is available in the existing Purāṇa literature and also in the form of temples and sculptures that have survived. Great emperors like Samudragupta and Chandragupta were devotees of Bhagavān Vishṇu and it was specially during the hundred years of their reign that Vaishṇavism emerged as the greatest religion of Bhakti. The available Bhāgavata text is the greatest document of that movement.

It gives us the quintessence of the Purāṇic religion and gives a clarion call to rally round the worship of Vishṇu as representing the supreme deity who pervades the whole world and life. Vishṇu is the great bowl or container *Mahā-Pātra*, of all the moral and spiritual virtues for which the soul aspires, e.g. truth, compassion, breadth of heart, Dharma, Tapas, Vairāgya, etc. The Bhāgavata distinguished themselves by a sympathetic understanding towards all creatures high and low and men and animals. In the Gupta period Purāṇic culture and Bhāgavata culture became interchangeable terms.

Vishṇu is described in various forms. His vehicle Garuḍa is a winged bird iconographically, but explained in the Bhāgavata as the embodiment of rhythmic movement (*Chhandomayena Garuḍena samuhyāmānaḥ*). Garuḍa was the same as Suparṇa Garutmān of the Ṛigveda to be identified with Sūrya or the principle of Time who is bearing on its back the cosmos. Vishṇu is said to-be sleeping in the ocean of milk, Kshīrasāgara, and from his navel rises a lotus stalk on which Brahmā takes his seat before he begins his creative activity. There are two concepts, namely a primeval ocean of water and then an ocean of milk; the latter is brought into existence by the process of churning. The meaning is that dissolution (*Pralaya*) is symbolised as the ocean of water and *Sṛishti* as the ocean of milk. Conversion of water into milk implies an act of creation that we see in the cow and in the Mother, Milk is the sign of motherhood generated in the breast for the sake of the child that is born from the mother's womb. It is stated in the Purāṇas that Vishṇu was at first in a state of rest. He had withdrawn the principle of time into his own body and time is symbolised as Ṛishi Mārkaṇḍeya, who lived to an age of a thousand years, who entered Vishṇu's mouth to initiate the period of dissolution. At the end of it, when the process of creation was to re-start, the Goddess of Sleep (*Nidrā*) came out of Vishṇu's body and was propitiated in a stotra by Brahmā. This roused Vishṇu to fresh activity.

This is a symbolicl description of the twofold rhythms of periodic activity and rest, also known as creation and dissolution. As soon as the woke up, Vishṇu found the two demons, Madhu and Kaiṭabha, locked in combat and he used a device to bring about their mutual balancing. These were the two forces of *Rajas* and *Tamas*, activity and inertia, and Vishṇu as the genius of *Sattva* brings the two under his control and thus the stage for the balanced interplay of the three forces of Guṇas is set, by which creation proceeds.

Vishṇu's couch on which he sleeps is said to be the cosmic serpent, Ananta Śesha, with a thousand heads. Ananta has obviously reference to the infinite substratum of the finite worlds.

The former refers to the transcendent and infinite Brahman and the latter to his form-made finite in the cosmos. Śesha and Vishṇu are like the two wheels of a single chariot which support each other. The thousand heads of the cosmic serpent recall the Thousand Headed Purusha of the Ṛigveda, an oft-repeated theme of the Purāṇas and a motif here re-employed for a new purpose of art and cult. In each major incarnation of Vishṇu like that of Rāma and Kṛishṇa there is a Śesha-counterpart of him. Śesha literally means the remainder which fills the mathematical contents of the whole. In a way the Purāṇas employ their own terminology to express the absolute and the relative and both are said to be the two aspects of Vishṇu.

As a deity Vishṇu is known in the Ṛigveda and his greatest exploit is the taking of the three steps (*Trivikrama*) at first he is Vāmana, but by taking three strides, he becomes Virāṭ. This becomes the *Trivikrama* legnd in the Purāṇas. Although cast in a mythical mould the meaning of the legend is clear. Each centre of new life is a dwarf in the beginning, that is of small or stunted growth; but by virtue of life's expanding rhythm it grows into its full form that is called the Giant, Virāṭ. Even the cosmos grew into its present dimensions from tiniest beginnings. The child in the womb grows from the zygote into the foetus or from the first fertilised cell to the fullest embryo in the mother's womb by the clearly established law of the Dwarf becoming the Giant by the virtue of Vishṇu's three steps. In each growth or movement these three steps are visible, since Vishṇu is present everywhere. Outward movement (*Gati*), inward movement (*Āgati*) and rest (*Sthiti*), these are the three forms in which Vishṇu shows his activity. These are said in the Rigveda to be the Dharmas of Vishṇu and the Purāṇas made of them a legend of great beauty as the story of Vishṇu's Trivikrama incarnation.

Another distinguishing feature of Vishṇu is the fourfold nature of his form, his four arms holding four attributes, which has reference to the fourfold manifestation or the cosmic Svastika. The Ṛigveda describes it as the perfect *chakra* in the hands of

Vishṇu, which consists of four angles of 90° each (Ṛigveda, 1.155.6). What is said to be Yuvā Kumāra in the Ṛigveda is the same as Vāmana in the Purāṇas, the 'young Hero', the 'beautiful boy'. He symbolises the principle of life (*Prāṇa*), Agni, Sūrya, Nārāyaṇa, Indra, etc., in the Upanishadic literature. The Purāṇas were called upon to take their clue from Vedic heights and to adjust their formulations to the new religious cults that were developing. So it happened in the case of Vishṇu whose fuller descriptions display many new elements and a congeries of the old one. The Purāṇas were assimilative of many strands and wove them into a new fabric of fresh meaning and beauty. The concept of Vishṇu as formulated by the Bhāgavata is of this type and is a theme surcharged with the spirit of devotion.

The great God Mahādeva Śiva is the third deity of the Trideva pantheon on whom the Purāṇas pour their highest love. It is difficult to bring under reasonable limits the manifold descriptions of the metaphysical, religious and mythical forms of Śiva as given in the Purāṇas. Śive was also called Rudra, and Rudra was a distinctive name of Agni, the Vedic God in its most popular form.

The identity of Agni and Rudra, an essentially Vedic theme, is repeated many times in the Purāṇas. The philosophical idea that Agni and Soma take part in the creation of life (*Agnīshomātmakaṁ jagat*) found its most beautiful expression in the Ardha-nārīśvara form of Śiva elaborated in the Purāṇas. The right half is male and the left half is female, that is, a combination of Śiva and Pārvatī as the two parents of the world who are present in each and every centre where new life or Prāṇāgni symbolising the babe or Kumāra Skanda is produced. The Purāṇas speak of him as the son of Agni or Rudra who has become Śiva by his marriage with Umā. Śiva is said to have five faces which the Purāṇas clearly speak to be the five great elements, sky, air, fire, water and earth. Śiva is Chandraśekhara, that is, bears the moon-god on his head. The moon represents the universal mind of the creator, namely the death-conquering

principle of illumination or Samādhi. He is Gaṅgādhara, where Gaṅgā typifies the stream of Soma as it flows from the immortal heaven to the level of the mortal Pañcha Bhūtas. The matted locks of Śiva on his head symbolise the principle of Ākāśa consisting of the directions of space in which the stream of Gaṅgā first descends and then loses her way and finally is released to descend on mortal earth. Both the moon and the river Gaṅgā point to the immortal nature of Śiva by which he is called Mṛtyuṁjaya. He has conquered death in his own body represented as poison and the serpents. He keeps the poison in his throat, that is, in the midst of Ākāśa where its deadly fumes are dispersed without any baneful effect. He is also immune from the poisonous fangs of the vipers that clasp around his body. The motif of the winding serpents was taken from the Ṛigveda where Vṛitrāsura is the great serpent interlocked in a mortal combat with Indra. The king of serpents pendent along Śiva's breast is the Purāṇic version of Vedic Vṛitra. About one thing the Vedas and the Purāṇas are unanimous, namely that Rudra and Sūrya are identical. There is both death and immortality in Sūrya. On this side of Sūrya, in the material world, there is death and darkness (*Mṛityu, tamaḥ*) and on the other side there is light and immortality (*Jyotiḥ, amṛitam*). This side and that side are to be viewed as the material and spiritual aspects of the mind in depth psychology of which each individual is constituted. Śiva after all is the great deity, the divine principle in each individual, named Prāṇa. He is a Tryambaka God, son of three mothers, Iḍā, Piṅgalā and Sushumṇā, or the one who has three eyes, Sun, Moon and Fire. The Tryambaka form of Śiva is mentioned in the Ṛigveda. The three mothers according to the Purāṇas are Durgā, Sarasvatī and Lakshmī, the three consorts of Śiva, Brahmā and Vishṇu who typify in Purāṇic symbology the threefold manifestations of the one Śakti, who is the universal Mother.

The religious cult of the Purāṇas is based on that of Śakti as one of their greatest contributions. The Devī-Bhāgavata contains the most graphic description of the worship of the Great Goddess in her several other forms also. The Devī-

Māhātmya which is one of the most popular texts under the name of Durgā-Saptaśatī is a theme of sublime inspiration, the creation of a rare genius. Its several Stotras are an asset higher than which there is hardly anything known in Purāṇic imagery. In the Vedas both the male and the female aspects of the divine creator have been admitted. Aditi is said to be the mother of all gods. She was the same as the Great Mother Goddess, Mahī Mātā, and identified with Śakti or Jagadambā, the Universal Mother, who creates all forms: *Śaktiḥ sṛijati brahmāṇḍam*, says the Devī Bhāgavata. This was the bed-rock of truth and conviction of the Purāṇic approach to the cult of the Female Energy which has found such elaboration not only in the Purāṇas but also in the Āgamas and the Tantras to which the Hindu religion owes such deep-seated allegiance. The whole country is dotted with shrines of the Mother Goddess in various forms. The Purāṇas have brought about an integration of the thousands of the local Goddesses with the emergence of a supreme Goddess in whose transcendence all others abide and have their being in the living consciousness of the people, from Śaradā to Mīnākshī and Hiṅgulā to Kāmākshī, a vast world of the worship of the Female energy or Mother-Goddess has prevailed in this country in Hindu religion and the Purāṇas have taken note of it in the form of a list of 108 Devī Pīṭhas of which several versions are current.

Other gods like the elephant-headed deity, Gaṇapati, the six-headed war-god Kārttikeya, Sūrya and the Navagrahas, etc., form part of the Puranic pantheon. The technique of taking original Vedic elements and combining them with new folk elements to evolve the form of a god or goddess was favourite with the Purāṇa-writers to which they have taken recourse in the case of three gods also. Gaṇeśa was identical with Brahmaṇaspati Soma which transcends the cosmic level and descends into the world through an enveloping filter. The Vedic Soma is symbolised as the sweet cake or sweet hall in the hands of Gaṇapati. The elephant head is the symbol of the universal mind, and the small mouse, the individual mind, which borrows in

matter. Sūrya is interpreted in the Purāṇas in more ways than one. He is the deity of time riding on a grand chariot which is the solar year and which is described with its seven rays and seven vibrational tensions named as Ṛishis, Devas, Pitṛis, Apsarases, Gandharvas, Yakshas and Rākshasas. This was the Indian VIBGYOR to represent the different coditions of actinic and thermal rays of the sun. The whole country pays its homage to the sun-god of the Purāṇa by building numerous temples with sun images on wheeled chariots. The Bhavishya Purāṇa is a document par excellence of Sun-worship, in which Iranian elements were admitted along with the Indian and a new synthesis of the two was produced both in the form of the image and in the attendants of Sūrya.

Hinduism is a living cult which has its scriptures at several levels. There is a tradition about Hinduism which Dr. Coomaraswamy used to give the name of *Philosophia Perennis*, that is, Sanātana Dharma. Hinduism is re-inforced by great scriptural texts as well as by the living practices of millions of teachers and the common people. As such it is a unique discipline worthy of study and interpretation at the highest University levels just as other religions are studied at the Universities of America and Europe. Even Chairs for the specific study of Hinduism in its many branches have to be established. The Purāṇas on that account deserve an extended ivestigation not only about the organised presentation of their contents and constituted critical texts, etc., but what mainly concerns their meaning and the interpretation of their legends throwing light on the religion and philosophy of Hinduism. It should be realised that Hinduism is not an ordinary legacy. It is the vastest system of religions discipline having an unbroken tradition of five thousand years with four hundred millions of followers whose destiny and way of life are linked with the health of this great religion.

THE PLACE OF ACTION AND KNOWLEDGE IN THE BHAGVADGITĀ ACCORDING TO ŚAṄKARA

CHURAMANI DATTA

Research Scholar Deptt. of Indian Philosophy & Religion

Śaṅkara has accepted the Upaniṣadic conception of *Ātman* as the all-pervading first principle of the universe. Like the Upaniṣads, Śaṅkara also does not make any distinction between *Ātman* and *Brahman*. He says: *Ātman* itself is *Brahman*[1], *Ātman* is *Brahman*'[2]. There is complete identity between *Ātman* and *Brahman*. The difference between the two terms is only in respect of our approach to reality. "The ultimate reality that we come upon as the result of our analysis of the external world is called *Brahman*, and *Ātman* is the name given to the highest reality within ourselves"[3].

Ātman, Śaṅkara holds, is pure Being, changeless and purposeless. It is beyond the categories of space, time and causality. It transcends the subject-object duality and the trinity of knower, known and knowledge. It is simple, in the sense that it has no parts, attributes and adjuncts. It is pure consciousness. It is self-luminous consciousness that is the ground of all finite empirical selves (*jīvas*). *Ātman*, associated with the body, sense-organs, mind and egoism—the evolutes of *Prakṛti*—is called the empirical self (*jīva*). Śaṅkara says: 'It is only because of nescience (*Avidyā* or *Māyā*) that the Self (*Ātman*) appears to-be finite. When nescience is destroyed the Self, which does not admit any multiplicity whatever, truly reveals itself by itself, like the sun when the cloud is removed[4]. The *jīva* is subject to spatio-temporal and causal limitations. It is an active agent, and the enjoyer of the fruits of actions. It is subject to transmigration, and attains (*a status of its personality*)

---

[1] ātmā hi brahma. S.B.G. II.17.

[2] ātmā ca brahma. S.B.S. I.1.1.

[3] M. K. V. Iyer: *Advaita Vedānta* (Asia, 1961) p. 26.

[4] paricchinna evājñānāttannāśe sati kevalaḥ
svayam prakāśate hyātmā meghāpāyeṅ'ṁśumānīva. *Atmabodha.* 4.

according to its merits and demerits. All these mutable features of the *jīva* are unreal products of 'Cosmic Illusion' (*Māyā*). The *Prakṛti*, composed of three *guṇas*, itself is *Māyā* or *Avidyā*, according to Śaṅkara[1].

The empirical selves are the illusory products of *Avidyā*. They are merely appearances, whereas *Ātman* is the ontological reality behind all empirical selves. "Owing to ignorance, the beginning of which cannot be assigned, the soul erroneously associates itself with the body, gross and subtle"[2]. The Self identifies itself with the body and mind and thinks 'I am wise', 'I am doer and enjoyer' etc. This limited ego gives rise to false knowledge and makes all sorts of distinctions between subject and object, object and object, *jīva* and *Īśvara*, which are the illusory creations of *Māyā*. Śaṅkara says: 'False knowledge is the knowledge of difference between the individual self and *Īśvara* due to non-discernment of the accidental nature of the *jīva* owing to its limiting adjuncts of the psychophysical organism[3]. This association of the self with the psychophysical organism (which is unreal), is bondage. Bondage is all due to false knowledge of the *kṣetra* and *kṣetrajña*. Bondage is not real, otherwise it cannot be negated. And if bondage can be negated, it must be conceived in some sense unreal. Śaṅkara declares that even *Brahmavidyā* cannot be expected either to create or to destroy reality[4]. Śaṅkara is a firm believer in the saying of the *Bhagavadgītā* that the truly existent or real (*sat*) cannot suffer to be negated'[5]—*nābhāvo vidyate sataḥ*. The false knowledge of the body and self as well as the unreal association of the self with the psychophysical organism are destroyed by the knowledge of

---

[1] S.B.G. VII.14; IV.6; IX. 10; etc.

[2] Datta and Chatterjee: *An Introduction to Indian Philosophy* (Calcutta University, 1960) p. 399.

[3] dehādisaṁghāta upādhisaṁbandha avivekakṛta Īśvarasaṁsāribheda mithyābuddhiḥ. S.B.S. I.1.5.

[4] na tu paramārthikaṁ vastu kartum nivarttayitum vārhati brahmavidyā S. B. Bra. Up. 1-4-10.

[5] N. K. Devaraja: *An Introduction to Śaṅkara's Theory of Knowledge* (Motilal Banarsidas, 1962) p. 84.

Ātman. The mind-body complex, love, hatred, delusion, the notion of agentship—are unreal creations of *Māyā* or *Avidyā*. *Ātman*—which is the ontological reality of the finite selves—is eternally liberated, but its intrinsic freedom is not known because it is covered by *Avidyā*. When *Avidyā* is destroyed, its intrinsic pure, divine nature is known, even as the real nature of a rope is known when the illusion of a snake is destroyed. Thus, we see that like most philosophical thinkers of India Śaṅkara holds that bondage is due to false knowledge or *Avidyā* and salvation is attained by knowledge alone—*jñānat eva tu kaivalyam*, because 'certainly freedom from evil cannot be achieved by means of false knowledge'[1].

The aim of the *Bhagavadgītā*, says Śaṅkara, is to facilitate the attainment of Supreme Bliss, i.e., a complete cessation of *saṁsāra* or trransmigratory life and its cause. The transmigratory life of the *jīvas*, we have seen, is due to false knowledge. Hence, 'a steady devotion to the true knowledge of the Self, preceded by the renunciation of all works', can help a seeker to attain the Supreme Bliss[2]. Śaṅkara further says that it is this *Yoga* (viz. Devotion to knowledge) which forms the subject of the Lord's teaching throughout the *Gītā*[3]. It was when discrimination was overpowered by grief and delusion that Arjuna abstained from battle—the duty of a *Kṣatriya*. Accordingly, all persons whose intelligence is swayed by grief and delusion and other evil influences naturally abandon their proper duties and resort to those which are prohibited and lead them to *saṁsāra* (i.e., the cycle of birth and death). And, seeing that their (viz. grief and delusion) cessation could not be brought about except by self-knowledge added to renunciation of all actions, says Śaṅkara, Lord Vāsudeva wished to teach that knowledge for the benefit of the whole world through Arjuna[4].

[1] na ca viparītajñānād aśubhād mokṣhṇam syāt. S.B.G. IV 18.

[2] SBG Introduction.

[3] gītāsu ca sarvāsu ayam eva yogo vivaksito bhagavatāḥ. SBG. IV. Introduction.

[4] tayoḥ ca sarvakarmasaṁnyāsapurvakād ātmajñānād na anyato nivṛttiḥ iti, tada upadidikṣuḥ sarvalokānugrahārtham Arjunam nimittikṛtya āha bhagavāna vāsudevaḥ. SBG. II. 11.

Śaṅkara is the staunchest advocate of knowledge as the only means of liberation. He holds that if bondage is all due to ignorance or false knowledge, liberation can be attained only with the help of right knowledge. Such knowledge one can have by integral experience. It is the experience of all beings in the Self and the Self in all beings[1]. Such a man of right knowledge always dwells in the state of *Viṣṇu*, says Śaṅkara; he is ever liberated and nothing obstructs his path to emancipation[2]. He realises that the Self and Brahman are one. Such mystic experience of identity of the Self is the highest consummation of knowledge[3]. Integral experience consumes all merits and demerits, which cause rebirth. It destroys grief, delusion and other afflications, which obscure the knowledge of the Self[4]. 'That right knowledge quickly leads to emancipation, says Śaṅkara is an established truth[5]. It can be acquired by meditation on *Brahman* by concentrated mind free from all taints of attachment, aversion and other evil thoughts, and withdrawn from external objects of enjoyment. Those who have renounced all desires for enjoyment, here and hereafter, acquire integral experience. Śaṅkara suggests, he who seeks for the endless bliss of the Self should withdraw the senses from the momentary pleasure of external objects[6]. A man who possesses discrimination and who has realised the Supreme Reality does not rejoice in the sense-objects. It is only quite ignorant persons that are, like cattle, found to rejoice in them[7].

---

1 sarvabhūtasthaṁ sarveṣu bhuteṣu stihtaṁ svamātmānaṁ sarvabhūtāni ca ātmani. SBG. VI. 29.

2 samyagdarśī yogī mayī vaiṣṇave parame pade vartate nityamukta eva sa no mokṣam prati kencit pratibadhyate. SBG VI. 31.

3 jñānam hi eṣā parā niṣṭhā yad ātmaikatvavijnānaṁ. SB. Kath. Up. I.2.8

4 SBG. IV. 42.

5 samyagdarśanāt kṣipram mokṣo bhavati iti ṣuniścitaḥ. SBG. IV. 39

6 bāhyaviṣayaprīteh kṣaṇikāyā indriyāṇi nivartayed ātmani akṣayasukhārthi. SBG. V. 21.

7 na bhogeṣu ramate budho vivekī avagataparamārthatattvaḥ atyantamūḍhānām eva hi viṣayeṣu ratiḥ dṛśyate, yathā paśuprabhṛteḥ. SBG. V. 22.

Śaṅkara's ethics is branded as intellectualistic, since he regards higher knowledge (*parā vidyā*) as being the only means of liberation. He does not even allow the combination of knowledge (*jñāna*) with action (*karma*) as a means to emancipation. Śaṅkara holds that works are antagonistic to knowledge as light is to darkness.[1] Śaṅkara has referred the views of *jñānakarmasamuccayavādins* in his commentary on the Gītā. According to Ānandagiri the Vṛttikāra is the *jñānakarmasamuccayavādin* here referred to. The Vṛttikāra holds that liberation cannot at all be attained by mere devotion to Self-knowledge (*ātmajñāniṣṭhā*) preceded by the renunciation of all works. Absolute freedom can be attained by knowledge conjoined with action, such as the *Agnihotra* prescribed in the *Śruti* and the *Smṛti*. Śaṅkara says this is wrong, since the Lord has made a distinction between *jñānaniṣṭhā* and *karma-niṣṭhā*, as based upon two distinct standpoints[2]. *Jñānaniṣṭhā* is based on the true knowledge of the Self as expounded in ch. II. 11-30 of the *Bhagavadgītā*. It is based upon the idea of non-agency and unity of the Self. It forms the Sāṁkhya standpoint (*sāṁkhya buddhi*). *Karmaniṣṭhā* or *Yoga* is based on the idea of agency and multiplicity of the Self. It consists in the performance of works as a means to liberation, requiring a knowledge of virtue and sin, and presupposing that the Self is distinct from the body and is the doer and enjoyer. Thus with reference to the *Sāṁkhya* and the *Yoga* standpoints two distinct paths have been shown by the Lord (in II.39), seeing the impossibility of knowledge and action being enjoined in one and the same person simultaneously. Śaṅkara here quotes *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, where it is stated, 'The *Brāhmaṇas*, who, having no worldly attachments, wish only for the region of the Self, give up all worldly concerns'. Thus, prescribing renunciation from actions the Upaniṣad continues in explanation of the said injunction: 'What shall we do with

---

[1] na hi karmaṇi brahmaniṣṭhatā sambhavati, karmātmajñānayor virodhāt. SB. Mund. Up. I. 2. 12.

[2] tad asad, jñānakarmaniṣṭhayoḥ vibhāgavacanād buddhidvayāśrayoḥ. SBG. II. 11.

off-spring, we who have attained this Self'[1]. In the same Upaniṣad we are told that, before marriage and after completing the investigation into the nature of *Dharma* and *Vedic* injunction, the man of the world desired a son and the twofold wealth, viz., human (*mānuṣa*) and divine (*daivī*) as the means of attaining to the three regions (of man, *Pitṛs* and of *Devas*). The wealth called human consists of works which lead to the region of the *Pitṛs*, and the other wealth called divine consists of wisdom (*vidyā*) which leads to the region of the *Devas*[2]. Śaṅkara says that the renunciation of the *Vedic* rites is enjoined on those who seek only the region of the self and are free from desire. This assigning of the two paths to two distinct classes of people would be unjustified if the Lord had intended a simultaneous conjunction of knowledge and Vedic rites[3]. Moreover, if it be held that knowledge is to be conjoined with the *smārtakarma*, even then the assigning of the two paths (viz., devotion to knowledge for the *Sāṁkhyas* and devotion to action for the *Yogins*) to two distinct classes of people would be inexplicable[5]. Again, the words of Arjuna 'Why dost Thou direct me to this terrible action' would be injustifiable. It is not, therefore, asserts Śaṅkara, possible for anybody to show that the *Gītā* teaches a conjunction of knowledge with any degree of action of any kind enjoined in the *śruti* or in the *smṛti*[6].

Moreover, if conjunction of knowledge and works be intended for all, it must have been intended for Arjuna also. In that case how might Arjuna ask about only one of the two, 'Tell me conclusively that which is the better of the two ?

---

1 etameva pravrājino lokam icchantaḥ pravrajanti...... kim prajayā kariṣyāmaḥ, yeṣāṁ no'yamātmāyaṁ loka iti. IV. 4. 22.

2 IV. 4. 17.

3 tad etad vibhāgavacanam anupapannaṁ syād yadi śrauta karmajñānayoḥ sammuccayaḥ abhipretaḥ syād bhagavataḥ. SBG. II. 11.

4 jñānayogena sāṁkhyānāṁ karmayogena yogīnāṁ. Bhagavadgītā. III. 3.

5 nā, pi smārtena karmaṇā buddheḥ sammuccaye abhiprete vibhāgavacanādi sarvam upapannam. SBG. II. 11.

6 Ibid.

(V.1). If the Lord has intended to preach a conjunction of knowledge and action, as the Vṛttikāra holds, the reply should have been: 'I meant a conjunction of knowledge and action; why are you thus mistaken'? On the contrary, the Lord says 'A twofold path was taught by Me'. (III.3). Śaṅkara says: if the conjunction of knowledge and action is regarded as constituting together a single means then the drawing of a distinction between knowledge and action by Arjuna, and his declaring knowledge to be superior to action, will be groundless[1]. Śaṅkara further says: 'if knowledge had been intended by the Lord to be at least an accessory to devotion to action, why then Arjuna wish to know about only one of them[2]. If knowledge and action are held together to form one means to liberation, they cannot at the same time be supposed to become distinct as producing distinct effects. If it was said by the Lord that both knowledge and action should be conjoined, then Arjuna's question (in III.1) cannot be explained. If, on the other hand, it has been taught by the Lord that knowledge and action are intended for two distinct classes of men, on the ground that a simultaneous devotion (on the part of one man) to knowledge and action was impossible owing to their mutual opposition, then the question becomes explicable[3]. Even if it was taught to Arjuna that both knowledge and action should be conjoined in him, knowledge which is superior to action, must certainly have been meant for him. Supposing that the question was asked due to ignorance, the Lord's answer that devotion to knowledge and devotion to action are assigned to two distinct classes of men, cannot be explained. Hence from this very answer of the Lord follows the impossibility of a conjunction of knowledge and action[4].

The Vṛttikāra interprets the question of Arjuna (in III.1) differently. The Vṛttikāra, as quoted by Śaṅkara, asserts in

---

[1] SBG. III. 1.

[2] yadi hi karmaniṣṭhāyām guṇabhūtaṁ api jñāṇaṁ bhagavatā uktaṁ syāt tat kathaṁ tayoḥ ekaṁ vada iti ekaviṣayā eva arjunasya śuśruṣā syāt. SBG. III. 2.

[3] SBG. III. Introduction

[4] SBG. III. Introduction.

the introductory portion of his commentary that a conjunction of knowledge and action for men in all stages of life (*āśramas*) is intended in the *Gītā*. But in the Third Discourse, he makes out that devotion to only one of the two paths is taught. This means that even the works which are enojoined by the scriptures as obligatory throughout life have to be renounced. The Vṛttikāra here may say that conjunction of knowledge and action is meant for the house-holders and not for others. This again, Śaṅkara says, involves contradiction, because it was formerly asserted by the Vṛttikāra that conjunction of knowledge and action was intended for all stages of life. The Vṛttikāra may explain it thus, that in the case of a house-holder a conjunction of knowledge with *śrauta* as well a *smārtakarma* is necessary for salvation, whereas the *saṁnyāsī* can attain *mokṣa* by knowledge conjoined with the *smārtakarma*. Śaṅkara says: 'then too much exertion falls to the lot of the house-holder. On the other hand, if as a means of attaining liberation, the *smārtakarma* only should be conjoined with knowledge in the case of the *saṁnyāsins*, it follows that for the house-holders, too, knowledge should be conjoined with the *smārtakarma*, and not with the *Śrautakarma* also[1].

Śaṅkara says that a person incurs sin by omitting the *agnikārya*, if he has not entered the fourth stage of life, i.e. *saṁnyāsa*. It is certainly not possible to imagine that *saṁnyāsins* will incur sin by omitting the obligatory duties. Again, the generation of sin is a positive effect (*bhāva*) and the omission of the obligatory duties is mere negation (*abhāva*); hence it seems impossible to imagine the generation of existence out of non-existence[2]. Śaṅkara says that even if the Veda teaches that evil arises from the omission of prescribed duties, it is tantamount to saying that the Veda conduces to no good and is therefore no authority. Hence no action can be enjoined for

---

[1] kiñca yadi mokṣasādhanatvena smārtāni karmāni ūrdhvaretasāṁ samuccīyante tathā gṛhasthasyāpi iṣyatāṁ smārtaiḥ eva samuccayo na śrautaih. SBG. III. Intro.

[2] na tāvad nityānām karmaṇām abhāvād eva bhāvarūpasya pratyavāyasya utapattih kalpayituṁ śakyā. *Ibid.*

samnyāsins; and hence also the absurdity of conjunction of knowledge and action[1].

Śaṅkara says that in the Upaniṣads, in the Itihāsas, in the Purāṇas and in the *Yoga*, renunciation of all actions is enjoined on the seeker of liberation as an accessory to knowledge. He quotes *śruti* and *smṛti* passages in his favour. For example;

> 'The Brāhmanas, having known that Self, live the life of mendicants'[2].
>
> 'Wherefore, of these austerities, renunciation, they say, is excellent'[3]. 'Renunciation alone excels'[4]. 'Not by action, not by progeny, not by wealth but by renunciation, some attained immortality'[5].
>
> 'One may renounce the world when yet a student. Whether one has not completed the injunctions or completed the injunctions, whether he is a student or not, even if he has not completed the sacrificial rites, on whatever day he has the spirit of renunciation, that very day let him renounce (and become a recluse)'[6].

The following passages from the smṛti may also be quoted :

> 'Finding the saṁsāra worthless and wishing to get at the essence, the unmarried grow quite weary of life and renounce the world'[7].
>
> 'By action a person is bound, and by wisdom he is released. Therefore, the sages who see the goal, perform no action'[8].

---

1 yadi vihitākaranad asambhāvyam api pratyavāyaṁ brūyād vedaḥ tadā anarthakaro vedaḥ aprāmaṇam iti uktam syāt. tasmād na saṁnyāsināṁ karmāṇiḥ ato jñānakarmaṇoḥ samuccayānupapattiḥ. *Ibid.*

2 Bṛh. Up. III. 5.1

3 Nārāyaṇa Up. II. 79.

4 *Ibid.* II. 78.

5 *Nārāyana Up.* II. 12.

6 *Jābāla Up.* 4.

7 saṁsārameva niḥsāraṁ dṛṣṭvā sāradidṛkṣayā
pravrajanti akṛtodvāhāḥ param vairāgyamāśritāḥ. *Bṛhaspati Smṛti.*

8 karmaṇā badhyate jantuḥ vidyayā ca vimucyate,
tasmātkarma na kurvanti yatayaḥ pāradarśinah. *Mbh. Śāntiparvan* 241-7.

> Here, in the *Gītā*, also the Lord says: 'Renouncing all actions by thought, and self-controlled, the embodied one rests happily in the nine-gated city, neither at all acting nor causing to act'[1].

Being immutable (avikriya), the Self is neither the agent nor the object of the action. And he, who knows the Self as immutable, indestructible, eternal, etc., cannot associate himself with the act of slaying nor does he cause other to slay. The reason for the denial of slaying applies to all actions whatever alike in the case of the enlightened[2]. From this assertion of impossibility of action in the case of an enlightened man, the evident conclusion of the Lord, says Śaṅkara, is that those acts which are enjoined by the scriptures are intended for the unenlightened. With reference to an enlightened man all actions have been denied by the Lord (in II.21) in the words 'how does such a man slay ?' Therefore, Śaṅkara says that the enlightened man who has realized the immutable Self and the man who is eager for emancipation have only to renounce all works[3]. Such an enlightened man should take resort in *Jñānayoga* or Devotion to knowledge. So also, the Lord will teach renunciation of all actions in the words, 'Renouncing all actions by thought the self-controlled person rests in the nine-gated city, neither acting nor causing to act' (V.13). Therefore the *Gītā* teaches that he who has acquired the knowledge of the Self should resort to renunciation only, not to action.

Before the dawn of wisdom, nescience, presents itself in various forms—as action, means and results—is regarded as authoritative, and becomes the source of all action. With the attainment of wisdom, nescience disappears, it cannot induce action. Śaṅkara says that as the sun illuminates all objects, so wisdom illuminates the Supreme Reality after destroying the unwisdom by which the mortals are enveloped. Such an

---

[1] *Bhagavadgītā 7* V. 13.

[2] SBG. II. 21.

[3] avikriyātmadarśino viduṣo mumukṣoh ca sarvakarmasaṁnyāse eva adhikāraḥ. *Ibid.*

enlightened sage intuites the equality of *Brahman* in all creatures. He rests in *Brahman* only, and blemishes of bodies do not affect him, since he has no egotism and does not identify himself with the aggregate of the body. He holds that the energies as sense organs move aimd the energies as sense-objects, but not the Self. He neither acts himself, nor causes the body and the senses to act. The power of acting or of causing to act is not inherent in the Self, says Śaṅkara[1], for, the Lord has taught that 'the Self is unchangeable' (II.25) and 'though seated in the body, he acts not, nor is he tainted' (XVII.31). The *śruti* says, 'It thinks as it were and moves as it were'[2]. Action pertains to the physical body which is the mainfestation of *Prakṛti*—the Divine *Māyā* composed of the three guṇas; *Ātman* forms the agent or the enjoyer through *Avidyā*. The truth is this that the Self is actinless. He, who has the right knowledge that action does not belong to the Self remains actionless while sense-organs act upon sense-object, is released from evil. Śaṅkara says, when he realised the Self as immutable, etc., his duty consists not in the performance of action, but in the renunciation of all action[3]. For him who has realised the Supreme Truth the instrument of offering and other accessories connected with the actual sacrifice are nothing but *Brahman*, who is one with his own inner-self (*pratyagātman*). Wherefore, to one who realises that all is *Brahman*, there is no action.

By 'action' Śaṅkara means the performance of Vedic rituals[4]. And every sacrificial rite, such as *Agnihotra*, is associated with an idea of the accessories of action, such as a particular god or gods to whom the oblation should be offered, and with egoism on the part of the agent and his attachment for the result. No sacrificial rite, says Śaṅkara, is ever found unasssociated with the idea of the accessories of action and

---

[1] na asti ātmanaḥ svataḥ kartṛrvaṁ kārayitṛtvam ca. SBG. V. 13.

[2] Bṛh. Up. IV. 3. 7.

[3] SBG. II. 69.

[4] SBG. V. 6; III. 4.

result, unaccompanied with the egoism and the longing for the result[1]. On the other hand, a man who has realised the Self and whose illusory knowledge has been replaced by right knowledge, he should renounce all actions, ever dwelling in the true actionless Self. The man who has realised the Self, has no longer any object to gain, since he has achieved all. For, wisdom, which is the means of liberation, comprehends all actions[2]. In ch. III.7 it is said that he has no more duties to perform[3]. In such passages as ch. III.4 and V.6 *Karmayoga* is enjoined as an accessory to the acquisition of knowledge of the Self, while in ch. VI.3, it is said that the man who has obtained right knowledge has no longer anything to do with *Karmayoga*. Therefore it is right to say that, for him who has realised the Self, and who is free from illusory knowledge, *Karmayoga* which is based upon the illusory knowledge, is impossible[4].

Some scholars hold that the obligatory duties, performed without any interest, do not produce any effect and hence be called inaction; but neglect of those duties produces evil and hence be termed action-figuratively. In other words, performance of obligatory duties does not produce any effects but their omission leads to hell. Śaṅkara says that an action done, whether interested (*kāmya*) or obligatory (*nitya*) must produce its effects. He says, according to our scriptures, those who, after performing sacrifices (viz., *pañca mahāyajñas*) to the gods eat the remains of the food, are free from all sins committed at the five places of animal-slaughter (such as the fire-places, etc.), as well as from those sins which result from involuntary acts of injury and other causes[5]. The obligatory duty, as

---

1 sarvaṁ eva agnihotrādikaṁ karma śabdasamarpitadevatāviśeṣasaṁpradānādikārakabuddhimatkartrabhimānaphalābhisandhimat ca dṛṣṭam. na upamṛditakriyākārakaphalabhedabuddhimat, kartṛtvābhimānaphalābhisandhirahitaṁ vā. SBG. IV. 24.

2 SBG. IV. 33.

3 ātmani eva ca saṁtuṣṭaḥ tasya kārya na vidyate.

4 ātmido nivṛttamithyājñānasya viparyayajñānamūlaka karmayogo na sambhavati. SBG. V. Intro.

5 SBG. III. 13.

taught by the Veda, must produce a result of its own, othersise the Veda would serve no purpose[1]. Even if we hold the former view, i.e., neglect of obligatory duties produce evil, Śaṅkara says that no evil can arise from the non-performance of the unselfish obligatory duties, for the *śruti*[2] as well as the *smṛti*[3] say that no existence can arise from non-existence.

Śaṅkara further says that the offering of action to the Lord must lead to still greater results, i.e., purity of mind; and by purifying mind, they cause knowledge to spring up and lead to the path of devotion to knowledge. It is said in the *Mahābhārata*.

'Knowledge springs in man on the destruction of sinful action, when the Self is seen in Self as in a clean mirror'[4].

Emancipation is not produced. It is eternal. It is independent of all actions. It is not a modification of the self, otherwise it would be non-eternal. It is the essential nature of the Self. It is only revealed by true knowledge; it cannot be produced either by action, or by both (knowledge and action); together[5]. Hence, Śaṅkara says that emancipation being no effect of an act, no action will be of any avail to a seeker for emancipation[6].

Some critics hold the view that there is no sure foundation for ethics in Advaitism of Śaṅkara, since *Ātman* transcends all relations and consequently demolishes the difference between one *jīva* and another. But this is not a sound charge, arising

---

1 nityasya ca karmaṇo vedapramāṇāvabuddhatvāt phalena bhavitavyaṁ iti avocāma anyathā vedasya ānarthakyaprasaṅgād iti. SBG. VI. Introduction.

2 katham asataḥ sat jāyeta. Ch. Up. VI. 2.2.

3 nāsato vidyate bhāvo. *Bhagavadgītā* II. 16.

4 jñānam utpadyate puṁsāṁ kṣayātpāpasya karmaṇaḥ. *Śāntiparvan* 204. 8.

5 na kebalebhyaḥ karmabhyo na ca jñānakarmabhyām samuccitābhyāṁ niḥśreyasaprāptiḥ. SBG. XVIII. 66.

6 mokṣasya ca akāryatvād mumukṣoḥ karmānarthakyam. SBG. III. Introduction.

due to a confusion of standpoints. It is true that he who has realised the unity of all beings, all differences including the difference between one *jīva* and another, vanishes. It only means that he has overcome the tension and conflict that moral life generally involves. His all actions are prompted by love and compassion and not by attachment (*rāga*), hatred (*dvesa*), infatuation (*moha*), etc. Doing good to others and promoting welfare to all beings are as effortless to him as breathing to us. Here, in the *Gītābhāsya*, Śaṅkara says that if thou art wise and knowest the truth, dost thou perform action for the protection of the masses[1]. His action is equivalent to inactiion, since all his actions are consumed in the fire of knowledge[2].

Śaṅkara has raised polemics against those who hold the view that performance of action is necessary to attain liberation. He says that actions are enjoined on the ignorant, not on the wise ; for, the man who has attained True Knowledge there need be no action. We have already seen nescience presents itself in the form of action, means and result and is regarded as authoritative, before the dawn of wisdom. In fact, all our experience of such things as action and agent is possible only in a state of *Avidyā*, only when we have not yet attained to the Real. Śaṅkara says that he, who has known the nature of action and inaction, is wise among men. He has achieved all ; he is released from evil. He knows that action pertains to the physical body, but man erroneously attributes action to the Self. But the obstacles in the path of True knowledge are overcome only by devotion to action. Śaṅkara says that by abstaining from action man cannot attain to actionlessness (*naiskarmya*). Certainly there is no attaining of an end except by proper means ; and, performance of action is a means of attaining freedom from activity[3]. In the *śruti karmayoga*

---

[1] tattvavit ced lokasaṁgrahārtham. SBG. IV. 15.

[2] jñānāgnidagdhakarmatvāt tadiyaṁ karma akarma eva sampadyate. SBG. IV. 20.

[3] karmārambhasya eva naiṣkarmyopāyatvāt. SBG. III. 4.

is declared to be a means to *jñānayoga* in the following passages :

'The Brāhmanas seek to know this (i.e., the Self) by the study of the Vedas, by *yajña* or worship'[1].

Here, in the *Gītā*, also, the following passages point to the same view :

'But without *Yoga* renunciation is hard to attain'[2].

'Having abandoned attachment, *Yogins* perform action for the purification of the self'[3]. 'Sacrifice, gift and also austerity are the purifiers of the wise'[4].

Śaṅkara, thus, recognises the devotion to action as an indirect means to attain emancipation. He says, the seeker of liberation, who has perfected and regenerated himself by the rightful performance of action, detached to its fruits, will after a long practice find spiritual wisdom in himself[5]. Without proper performance of the duties therefore even fitness for higher knowledge is impossible[6].

Śaṅkara holds that the devotion to action leads to emancipation step by step : first the purification of mind, then knowledge, then renunciation of all actions, and lastly liberation. He says that the Religion of Works when practised in a spirit of complete devotion to the Lord without a longing for parctiular reward, it conduces to the purity of mind (*sattva śuddhi*). The man whose mind is pure is competent to tread the path of knowledge, and to him comes knowledge ; and thus the Religion of Works also forms a means to the Supreme Bliss[7]. When a man performs obligatory duties without any attachment

---

[1] tametaṁ vedānuvacanena brāhmaṇā vividiṣanti yajñena. Bṛh. Up. IV. 4. 22.

[2] saṁnyāsastu mahābāho duḥkhamāptumayogataḥ (V. 6)

[3] yoginaḥ karma kurvanti saṅgaṁ tyaktvātmaśuddhye. (V. 11)

[4] yajño dānaṁ tapaścaiva pāvanāni manīṣiṇāṁ. (XVIII. 5)

[5] SBG. IV. 38.

[6] G. N. Jha : *Sankara Vedanta* (Allhabad University, 1939) p. 73.

[7] SBG. Introduction.

and without a longing for results, his inner sense (*anataḥ karaṇa*) becomes pure. He is permeated with *Sattva*. As he is permeated with *Sattva*, he becomes gifted with wisdom; and his doubts and delusion caused by *Avidyā* are cut asunder[1]. In this context the Lord says that the abandonment of an obligatory duty from ignorance is *Tāmasika*; from fear of bodily trouble is *Rājasika*; but whatever obligatory duty is done merely because it aught to be done, by abandoning attachment and also the fruit, that abandonment is deemed to be *Sāttvika*[2].

For an ordinary man, Śaṅkara suggests that he should continue to perform actions enjoined on him, according to his caste (*Varṇa*) and religious order (*Āsrama*), until he has attained the ability to enter upon the higher discipline of knowledge consisting of *śravaṇa*, *manana*, etc.[3]. Thus worshipping the Lord by performing his ordained duties without attachment he attains perfection which consists in the body and the senses being qualified for the devotion to knowledge after all their impurities have been washed away[4]. The attainment of this ability for knowledge is thus the result of the unattached performance of ordained duties, and this leads on to its inevitable result, i.e., the attainment of knowledge of the oneness of the Self with *Iśvara*; he traces all actions to the interactions of the energies (*guṇas*). And he, who knows the Self, is able to renounce action entirely, inasmuch as *Avidyā* has been expelled by *Vidyā*[5]. Śaṅkara says that just as a well-kindled fire reduces fuel to ashes, so does the fire of wisdom reduce all actions to ashes, i.e., it renders them impotent[6]. Such a devotee of wisdom should also restrain his speech, body and mind. With all the senses thus quieted, he should always and devoutly

---

1 SBG. XVIII. 10; V. 7.

2 *Bhagavadgītā* XVIII. 7 to 9.

3 SBG. II. 47.

4 SBG. IV. 41; III. 190 XVIII. 44 to 45.

5 vidvāna tu punaḥ vidyayā avidyāyāṁ nivṛttāyam śaknoti eva aśeṣataḥ karma parityaktuṁ. SBG. XVIII. 48.

6 SBG. IV. 37.

16

practise *Dhyānayoga*, which is the proximate means to right knowledge. Commenting on ch. VI.40 to 45, Śaṅkara says that he who has failed in *Yoga* will not be subject to a lower birth than the present one. In the course of many births he acquires ability in *Yoga* gradually, and by the aggregate ability thus acquired in many births he is perfected. Then he obtains right knowledge and reaches the Supreme Goal.

Renunciation of actions and performance of actions, both lead to *mokṣa*, as giving rise to True Knowledge. Again, though both lead to *mokṣa*, *Karmayoga* is better than *Karma-saṁnyāsa* unaccompanied with knowledge. Because a person, who performs his ordained duties without any attachment to the fruits of action, should be regarded as perfect renouncer. But that *saṁnyāsa* which is based upon the true knowledge is regarded by the Lord as *Sāṁkhya*, and *Sāṁkhya* itself is the true *Yoga*. Śaṅkara says that *Saṁnyāsa* (renunciation of action) and *Karmayoga* (performance of Vedic rites) are themselves termed as *Sāṁkhya* and *Yoga* when knowledge of the Self and equanimity (*saṁbuddhitva*) are added to them respectively. Hence, the men of knowledge believe that they (viz. *Sāṃkhya* and *Yoga*) produce but one harmonius result. He who rightly observes even one of them, obtains the fruits of both.

It is not possible for an ordinary man to renounce all actions, so long as he has an embodied existence and has some attachment to the body. But when he performs obligatory duties abandoning the fruits thereof with an equanimity of mind (*saṁbuddhitva*), he is said to be an abandoner (*tyāgi*) though he is performing actions. The man, who has equanimity of mind, casts off in this world both merit and demerit through attaining mental purity and knowledge. Such devotion with equanimity of mind in success and failure, on the part of him who is engaged in the performance of his own duties, is indeed a power, because works which are of a binding nature loose that nature[1]. Accordingly, the renunciation of all actions is possible for him alone

[1] SBG. II. 50.

who has attained to Right knowledge, inasmuch as he sees that action and its accessories and its results are all ascribed to the Self by *Avidyā*[1]. For, the man who has attained True Knowledge there need be no action, specially because he is free from all longings and desires[2]. Śaṅkara, therefore, says that whatever utility there is in all the Vedic rituals, is comprehended in the utility of the right knowledge possessed by a *Brāhmaṇa* who has renounced the world and has completely realised the truth concerning the Absolute Reality[3].

A man who has properly discharged all the obligations that are enjoined on him by the Vedas will exhibit certain characteristics which qualify him for the study of the Vedānta. 'The qualifications necessary, according to Śaṅkara, for the study of Vedānta', says Dr. S. N. Das Gupta, 'are (1) that the person having studied all the Vedas with the proper accessories, is in full possession of the knowledge of the Vedas, (2) that either in this life or in another, he must have performed only the obligatory Vedic duties (*nitya karma*) and occasionally obligatory duties (*naimittika karma*) and must have avoided all actions for the fulfilment of selfish desires (*kāmya karma*) and all prohibited actions (*niṣiddha karma*) in such a way that his mind is purged of all good and bad actions. When he has thus properly purified his mind and is in possession of the virtues or means of fitting the mind for Vedānta instruction (called *sādhanā*) he can regard himself as properly qualified for the Vedānta instruction. These virtues are (1) knowledge of what is eternal and what is transient, (2) disinclination to enjoyments of this life and of the heavenly life after death, (3) extreme distaste for all enjoyments, through *sama*, *dama*, *uparati*, etc., and anxiety for attaining the means of right knowledge, and (4) strong desire to attain salvation. A man possessing the above qualities should try to understand correctly the true purport of the Upaniṣads (called

---

[1] SBG. CVIII. 11, 12.

[2] SBG. III. 17-19.

[3] SBG. II. 46.

śravana), and by arguments in favour of the purport of the Upaniṣads to strengthen his conviction as stated in the Upaniṣads (called *manan*) and then by *nididhyāsana* (meditation) which includes all the *Yoga* processes of concentration, try to realize the truth as one'[1].

---

[1] *A History of Indian Philosophy* (Cambridge, 1957), pp. 489-90.

आजमगढ़ जिले की बोली के सर्वनाम*

श्री महेन्द्रनाथ दुबे
सह-संपादक 'प्रज्ञा'

'आजमगढ़ जिले की बोली' के विभिन्न अंचलों में सर्वनामों के प्रयोग में कुछ भिन्नता मिलती है। कुछ सर्वनाम ऐसे हैं जो यदि पूर्वी अंचल में अधिक प्रचलित हैं तो पश्चिमी अंचल में उनका प्रयोग नहीं होता, तो कुछ ऐसी भी हैं जो पश्चिमी अंचल में तो अधिक चलते हैं पर पूर्वी अंचल में उनका प्रचलन नहीं के बराबर है। मध्यवर्ती अंचल में प्रयुक्त सर्वनामों की स्थिति माध्यमिक सी है। इनका छुटपुट प्रयोग पश्चिमी एवं पूर्वी दोनों अंचलों में होता है तथा दोनों अंचलों के विशिष्ट सर्वनाम भी यहाँ व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार मध्यवर्ती क्षेत्र में शेष दोनो क्षेत्रों के सर्वनाम चलते हैं। वैसे पश्चिमी अंचल एवं पूर्वी अंचल के विशिष्ट सर्वनामों का प्रयोग, जब एक-दूसरे अंचलों में होता है, तब भी लोग उसे समझ लेते हैं भले ही वे ठीक उन्हीं सर्वनामों का प्रयोग न करें। इस प्रकार सर्वनामों का वैभिन्य होने पर ही सभी अंचल परस्पर सुबोध सीमा में हैं।

§ १. सर्वनामों में लिङ्गभेद प्रायः नहीं होता। परन्तु सर्वनामों के साथ जिन क्रिया-पदों का प्रयोग होता है उनसे उनका लिङ्ग निर्देश खड़ी-बोली की भाँति ही सूचित होता है। यथाः—

तूँ गइला,	तूँ गया।
तूँ गइली—या तूँ गइलू	तूँ गई; या आप गई।

परन्तु उत्तम पुरुषवाचक सर्वनामों के क्रियापदों में लिङ्ग-भेद नहीं किया जाता। खड़ी-बोली में जहाँ 'मैं खाता हूँ' तथा 'मैं खाती हूँ' वाक्यों के क्रियापद लिङ्गानुसार भिन्नत्व रखते हैं वहाँ आजमगढ़ की बोली में प्रयुक्त रूपों में इस प्रकार का कोई भेद नहीं होता। इसके लिए स्त्रीलिङ्ग अथवा पुल्लिङ्ग दोनों के रूप 'मों खात हओं' या 'हम खात हईं' समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

§ २. नाम की भाँति सर्वनाम के भी दो वचन होते हैं (१) एक वचन तथा (२) बहुवचन। सर्वनामों के बहुवचन-रूप, प्रायः एक वचन के रूपों में परसर्गों के योग से अथवा समूह वाचक अव्ययों के योग से सम्पन्न होते हैं। सर्वनामों के प्रमुख भेदों का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

पुरुषवाचक सर्वनाम

§ ३. साधारणतया पुरुषवाचक सर्वनाम के तीनों रूप—**उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष**

---

* प्रस्तुत निबन्ध श्री करुणापति त्रिपाठी (अध्यक्ष—शिक्षाशास्त्र विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) के निर्देशन में तैयार किया गया है। तदर्थ लेखक त्रिपाठी जी का विशेष आभारी है।

एवं अन्य पुरुष—इस बोली में व्यवहृत होते हैं। उत्तम पुरुष सर्वनामों के रूपों में किसी प्रकार का भेद नहीं होता, परन्तु मध्यम एवं अन्य पुरुष सर्वनामों में अभीप्सित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तरों के अनुरूप—आदरार्थक, सामान्य अथवा आदरहीन—विभिन्न रूपों का प्रयोग किया जाता है। आदरार्थक एवं सामान्य रूप प्रायः एक से होते हैं पर आदरहीन रूप कुछ भिन्न होते हैं। इनकी चर्चा यथास्थान की जाएगी। अन्य पुरुष में प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम प्रायः वे ही हैं जो दूरस्थ अथवा समीपस्थ वस्तुओं के लिए प्रयुक्त संकेतवाचक सर्वनामों में प्रयुक्त होते हैं। अतः इनका विवरण साथ-साथ दिया जाएगा। सर्वनामों के उन रूपों का विवरण, जो मध्यवर्ती अंचल में प्रयुक्त होते हैं तथा साधारणतः पूर्वी एवं पश्चिमी अंचलों में भी चलते हैं, एक साथ दिया जा रहा है। पूर्वी एवं पश्चिमी अंचलों में प्रयुक्त विशिष्ट-रूप आवश्यकतानुसार यथास्थान दिए जाएँगे।

§ ३.१ उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम

	एक वचन	बहुवचन
अविकारी	मों, हम्	हमहन्
विकारी	मँय, मऽ, हम्	हमहने, हमहनक, हमहन् लोगन्
संबंध	मोर्, हमार्	हमरन क, हमहन क
	पूर्वी अंचल	
अविकारी		हमनी
विकारी		हमनीका, हमहनीका
संबंध	हमनी क	हमनी क
	पश्चिमी अंचल	
अविकारी	मँय, मँइ	हमन्
विकारी	मों	हमरन्

पुरुषवाचक सर्वनामों का प्रयोग जब भेदक (विशेषण) के रूप में किया जाता है तब उनके संबंधकारक के रूप भेद्य (विशेष्य) के लिंग का अनुसरण करते हैं। यथा :—

मोर् बचवा—मेरा बच्चा, हमार् घर—मेरा घर,
मोरि बछिया—मेरी बाछी, हमारि गाइ—मेरी गाय,

§ ३.१ (क) **मों** का संबंध डॉ० चाटुर्ज्या[१] महोदय (B.L.§ ५४१) संस्कृत **मम** से जोड़ते हैं। मँय, मँइ और मऽ रूपों का संबंध प्राकृत मए (सं० मया) से जोड़ा जाता है। वैसे संस्कृत में भी 'मे' रूप संबंध में होता है। उसके साथ भी इसको संबद्ध कहा जा सकता है।

(ख) **हम्** का संबंध प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के कल्पित रूप *अस्मे[२] प्राकृत अम्हे—अम्ह से माना जाता है। यह 'अम्ह' उलट कर हम हो गया है।

---

१. Dr. S. K. Chatterji, Origin and Development of Bengali language

२. Dr. B. R. Saksena, Evolution of Awadhi § 237 (b)

यह रूप तत्त्वतः विचार करने पर वस्तुतः संस्कृत के अस्मद् का प्राकृत में *अह्म> 'अम्ह' हो जाता है। 'अम्हे' प्राकृत में 'ते', 'के', 'ये' और 'सर्वे' आदि के वचन पर एकरांत हो जाता है।

संस्कृत के अव्ययों में 'अस्मि' एक विभक्ति प्रतिरूप अव्यय है जिसका अर्थ भी 'मैं' और 'हूँ' होता है। इस 'अस्मि' से असमि>अहमि>अहमु>अहउँ>हउँ क्रम से 'हम' की विकास श्रृंखला जोड़ी जा सकती है। यह 'हम् या 'हौं' व्रजी और पूर्वी बोलियों में एक वचन ही प्रायः होता है। आजमगढ़ में भी 'हम' के अनेक रूपों का एक वचन में प्रयोग होता है।

(ग) संबंध के रूप 'र' एवं 'क' परसर्गों के योग से बने हैं जिनका संबंध संस्कृत कृते>केर, केरक>एर>र से है। बहुवचन के रूप { —अन् } प्रत्यय के योग से बने हैं। इसके अतिरिक्त 'सब्', सभ्', 'सभन्', 'सवन्', 'स', 'कुल्', 'कुल्हि', 'लोग्', 'लोगन्, आदि समूहवाची शब्दों का भी योग किया जाता है। इन समूहवाची पदों का सर्वनामों के साथ पर-प्रयोग होता है। यथा—हमहन् लोगन्, तोहन् सवन्, ऊ स, या ऊ कुल् आदि।

§ ३.२ मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम

	एक वचन	बहुवचन
अविकारी	तूँ, तुँ	तुहन् या तोहन् लोग्, तोहन् लोगन्
	तु, तँय (आदरहीन)	तोहरन्, तुहने, तुहँनक्, तुहन् या तोहन् सवन्, कुल्हि आदि०
विकारी	तूँ, तोँ, तँ, तुँह	
संबंध	तुहार्, तोहार्	
	तोर् (आदरहीन)	

पूर्वी अंचल

अविकारी	रउवाँ (आदरार्थ)	रउवाँ सभन्, सभे
विकारी	रउराँ, रउरे,	रउराँ सभन्, रउरे सभन्
	तुहरा तोहरा	
संबंध	राउर्	

पश्चिमी अंचल

अविकारी	तयँ, तुं (आदरहीन)	तोनहन्, तुनहन्, तोन्हन्, तोनहने, तुनहने

§ ३.२ (क) मध्यम पुरुषवाचक सर्वनामों के प्रयोग में उल्लेख्य व्यक्ति की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार सर्वनामों के आदरार्थक, सामान्य एवं आदरहीन तीन प्रकार के प्रयोग होते हैं। पूर्वी अंचल में आदरार्थक 'रउवाँ' सर्वनाम का प्रयोग होता है। मध्यवर्त्ती एवं पश्चिमी अंचल में इस प्रकार का पृथक् रूप से कोई आदरार्थक सर्वनाम प्रचलित नहीं है। परन्तु सामान्य सर्वनाम का प्रयोग

ही इस प्रकार किया जाता है कि अभीप्सित अर्थ निकल आता है। आदर सूचित करने के लिए प्रायः बहुवचन की क्रिया का प्रयोग होता है। यथा -

तूँ गाना गइबा ? आप गाना गाएँगे ?

तूँ का करति हऊ ? आप क्या कर रही हैं ?

इधर खड़ीवोली के प्रभाव से पूर्वी एवं मध्यवर्ती अंचल में 'आप' सर्वनाम का व्यवहार होने लगा है। पश्चिमी अंचल में इसका 'आपु' उच्चारण भी होता है।

(ख) मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम के सामान्य रूपों के बहुवचन में लिङ्ग-भेद भी पाया जाता है। पूर्वी अंचल में { —ईका } तथा शेष अंचलों में { —इ } प्रत्यय के योग से स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं। यथा—तोहन् का करतारऽ। तोहनीका का करतारू। तोहन का करत हवा। तोहनि का करत हऊ।

(ग) तू, तूँ तथा तुँ का संबंध संस्कृत के 'त्वम्' प्राकृत 'तुमम्' से (पिशेल § ४२०) जोड़ा जाता है। तयँ, तैं, और तइँ रूप तृतीया के 'त्वया>तुइ>तुइँ>तैं तयँ रूप से संबंधित बताए गए हैं। तोर तोहार के 'तो' की उत्पत्ति डॉ० चाटुर्ज्या (§ ५४९) प्रा० भा० आ० भा० के 'तव' से मानते हैं, जिनमें संबंध का प्रत्यय (कृते केरक—केर) —कर, संयुक्त हो गया है।

संस्कृत में मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम (युष्मद्) के एक वचन में त वाले (त्वम्, त्वाम् आदि) तथा अन्य वचनों में 'य' — वाले (यूयाम्, यूयम्) रूप मिलते हैं। आ० आ० भाषाओं तथा हिन्दी एवं उसकी बोलियों में पाए जाने वाले मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम के 'त' श्रृंखला के रूप संस्कृत के एक वचन तथा बहुवचन के रूपों के योग से विकसित हुए हैं। इसके अतिरिक्त इनके कुछ रूपों (तुम्ह—मुझ आदि) में उत्तम पुरुष (अस्मद्) तथा मध्यम पुरुष (युस्मद्) के रूपों का एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ा है। जिससे एक दूसरे के वजन (analogy) पर वर्तमान रूप विकसित हुए हैं। प्राकृत काल में ही 'अम्ह' के वजन पर 'तुम्ह' रूप बन गया था। इसी प्रकार 'तुज्झ भी होता है जो 'तुभ्यम्' से आया है। उत्तम पुरुष के उकार वाले (मुझ आदि) रूप 'तुज्झ' के वजन पर बने हैं। वर्त्तमान समय में प्रचलित रूपों के विकास में कई भिन्न-भिन्न रूप-श्रृंखलाओं का मिश्रण हुआ है।

आदरार्थक 'रउवाँ' तथा 'राउर' का संबंध डॉ० सक्सेना[१] ने राजन् से माना है जिसमें 'र' अंश परसर्ग 'केरक' 'कर' के योग से आया है। डॉ० तिवारी[२] राउर का संबंध प्राकृत 'लाउल' तथा संस्कृत 'राजकुल' से मानते हैं।

संकेतवाचक सर्वनाम

§ ४. संकेतवाचक सर्वनाम दो प्रकार के हैं—(१) दूरवर्त्ती उल्लेखसूचक (remote demonstrative) तथा (२) निकटवर्त्ती उल्लेखसूचक (proximate demonstrative)। जैसा कि पहले कहा जा चुका है पुरुषवाचक सर्वनाम के अन्य पुरुष के रूप भी इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं।

---

१ Dr. B. R. Saksena, Evolution of Awadhi § 254

२ डॉ० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य § ४२८

§४.१ दूरवर्त्ती उल्लेखसूचक

	एक वचन	बहुवचन
अवि०	उ, ऊ, हऊ,	उनहन्, हुनहन्, उ, ऊ या हऊ स, कुल् आदि
वि०	ऊ, ओ, हुन्ह्,	उनहन्, ओनहन् होनहन्
संबंध	ओकर्, होकर, ओ कऽ, हो कऽ	उनहन क, हुनहन क

पूर्वी-अंचल

अवि०	उहांका उन्हि, हुन्हि	उहाँ सभका
वि०	उन्हुका, हुन्हुका	हुन्हन् लोगनि, लोगनीका
संबंध	उन्हकर्, उन्हकरा, हुन्हुकरा	

पश्चिमी-अंचल

अवि०	वय्, वै, वहु	वन्, उइ या वय् सभन्, पचन् आदि
वि०	उइ, वहि, ओन्	उन्हन्, ओनहन्
सं०	वनकय्, ओनकय्, वनकर्, ओनकर्	

§ ४.१ (क) इस सर्वनाम के रूपों का प्रयोग विशेषण के रूप में अधिक होता है यथा—उ अदिमी—वह आदमी, वय बरधा—वह बैल आदि। विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर कुछ रूपों में लिङ्ग-भेद भी किया जाता है। स्त्रीलिङ्ग रूप { —इ } या { —ई } प्रत्ययों के योग से बनाए जाते हैं। यथा—ओकर लइका—उसका लड़का, ओकरि लइकी—उसकी लड़की।

(ख) उ,ऊ या ओ रूपों वाले इन सर्वनामों की कोई सुनिश्चित व्युत्पत्ति नहीं मिलती। डॉ० चाटुर्ज्या ने (§ ५७२) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की बोलियों में संभाव्य *अव रूप की कल्पना की है तथा उसी से इन रूपों का संबंध माना है। परन्तु *अव के रूपों का संस्कृत प्राकृत में कहीं कोई प्रतिनिधि नहीं मिलता।

डॉ० सक्सेना (§ २४२) के विचार से दूरवर्त्ती उल्लेखसूचक सर्वनाय के ये रूप निकटवर्त्ती उल्लेखसूचक सर्वनाम के वजन पर बने हैं यथा—इ—ऊ, ए—ओ आदि।

वस्तुतः संस्कृत 'अदस्' शब्द की दो रूप शृंखलाएँ—'असौ' और 'अमू'—मिलती हैं। इसका षष्ठी में 'अमुष्य' रूप होता है। इस अमुष्य से अउस्स-उस्स-उस-उ के विकास-क्रम का अनुमान किया जा सकता है।

'अव' रूप भी 'अदस्' का प्राकृतीभूत रूप है जिसमें अंत्यव्यंजन लोप होने पर 'अद'>अअ>अव हो जाएगा। यही कल्पित 'अव' मूल माना गया है।

§४.२ निकटवर्त्ती उल्लेखसूचक

	एक वचन	बहुवचन
अवि०	इ, ई, हई	ई स, सवन्, कुल, कुल्हि, इनहन्, हिनहन्,
	इन्, इन्ह् (आदरार्थ)	ई लोग्, लोगन् इनहन् लोग्, लोगन्
वि०	ई, ए,	इन्, इन्हन्, इनहने,
सं०	एकर्, हेकर्, ए क, हे क इन क	

पूर्वी अंचल

अवि०	इहाँका (आदरार्थ)	इहाँ सभ् का
सं०	एकरा, हेकरा, इनकरा (आदरार्थ)	इहाँ सभन् का

पश्चिमी अंचल

अवि०	यय्, यै, एन्	यनहन, एन्हन् यय्, यै पचे, लोग् आदि
वि०	एन्, इन्	एन लोगन्, सभन्
सं०	एनकर्, यनकर्	

§ ४.२ (क) दूरवर्ती एवं निकटवर्ती उल्लेखसूचक सर्वनामों का प्रयोग निर्जीव एवं सजीव दोनों के लिए होता है। यथा—

ऊ पाथर, वह पत्थल, ऊ अदिमी, वह आदमी, ई ताल, यह ताल, ई लइका, यह लड़का

परन्तु आदरार्थक रूपों का प्रयोग केवल बड़े लोगों, देवी देवताओं आदि के लिए ही होता है यथा—उहाँ का कालिह अइहैं—वे कल आवेंगे। वय् पढ़ेन ? उन्होंने पढ़ा ?

आदरार्थ रूपों के साथ क्रियाओं के वहुवचन के रूप प्रयुक्त होते हैं। यथा—ई रईस हवँ--ये रईस हैं। इहाँका भल अदिमी हईं—ये अच्छे आदमी हैं। एन महमूली नाँय हँय। ये मामूली नहीं हैं।

(ख) निकटवर्ती उल्लेखसूचक सर्वनाम के इ, ए वाले रूपों का संबंध संस्कृत अस्य>अस्स से है। डॉ० चाटुर्ज्या महोदय इसका संबंध 'एतस्य' से मानते हैं।

यहु-एहु का संबंध संस्कृत 'एतद्' के 'एषः' रूप से जान पड़ता है। (एषः>एसो >एहो>एहु, यहु)

इहाँ का, उहाँ का रूप संभवतः 'अत्र भवान्', 'तत्र भवान्' से संबंधित हैं[१]।

संबन्धवाचक सर्वनाम (Relative Pronouns)

§ ५. पुरुषवाचक एवं संकेतवाचक सर्वनामों के अतिरिक्त अन्य सर्वनामों में

[१] डॉ० तिवारी भो० भाषा और साहित्य ४०१।

आंचलिक भेद कम पाए जाते हैं। जो भेद पाए जाते हैं उनमें भी विशेषकर औच्चारणिक भेद ही होते हैं। अतः इनका उल्लेख एक साथ किया जा रहा है। पूर्वी एवं पश्चिमी अंचल के विशिष्ट रूपों का संकेत यथास्थान किया जाएगा।

	एकवचन	बहुवचन
अवि०	जो, जे, जवन्	जेवन्, जवन्, जिनहन्, जवन् लोग्, सवन्, स्
	जिन्हि (पूर्वी)	जिन्हनी लोग्, सग्
	जउन्, जौन् (पश्चिमी)	जउने, जउन् लोग्, जे पचे
	जेन् (आदरार्थ)	
वि०	जेवना, जवना	जेवनन्, जवनन्
	जेह् (पूर्वी)	जेह् लोग्, सभ्
	जेहि (पश्चिमी)	जिन्हि
संबंध	जे कऽ, जेकर, जवने कऽ	जिन्हन् क, जिन् क, जवनन् क
	जेकरा, जिन्हिकरा, (पूर्वी)	
	जेनकय्, जेनकर्, जेहिकय् (पश्चिमी)	

(क) इस सर्वनाम के रूपों का विशेषण के समान भी प्रयोग किया जाता है। विशेषणवत् प्रयुक्त होने पर इनमें विशेष्य के अनुसार लिङ्ग-भेद भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग के रूप {-इ}, {-ई} अथवा {-ईका} प्रत्ययों के योग से बनते हैं यथा--

'जवन् कहलऽ'—जिसने कहा। 'जवनि कहलऽ।' जवनीं कहलीं (बहुवचन) जवनीका कहलीं।

पूर्वी अंचल में इनमें लिङ्ग भेद कम किया जाता है।

(ख) संबंधवाचक सर्वनाम के 'ज-' शृंखला के सभी रूपों का संबंध संस्कृत 'यत्' से है। संस्कृत के 'य-' श्रेणी के रूप प्राकृत में ज- रूप में परिवर्तित हो गए थे। जो संस्कृत यः (या अथवा 'यत्') से संबंध रखते हैं। 'जवन्'-'जउन्' जैसे रूप 'यः पुनः' >यउनः से विकसित हुए हैं। 'जे' संस्कृत 'ये' का प्रतिनिधि है। बहुवचन एवं संबंध के अन्य रूप परसर्गों के योग से बने हैं।

(ग) संबंधवाचक सर्वनामों का प्रयोग अधिकतर नित्य संबंधवाचक या संगतिवाचक सर्वनामों (correlative pronoun) के साथ किया जाता है। प्रायः इनका क्रमशः पूर्वापर प्रयोग होता है। यथा—'जे कमाई ते खाई', जो काम करेगा वह खाएगा। जवन् जरी तवन् बुताई'–जो जलेगा वह बुझेगा।

नित्यसंबन्धवाचक या संगतिवाचक सर्वनाम

§ ६. नित्यसंबन्धवाचक या संगतिवाचक सर्वनामों के स्थान पर अब खड़ी बोली के प्रभाव से दूरवर्ती उल्लेखसूचक सर्वनामों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। संगतिवाचक सर्वनामों के निम्नलिखित रूप प्रचलित हैं।

	एकवचन	बहुवचन
अवि०	से, ते, तिन्हि,	सेवन्, तवन्, तेवन्, तिनहन्, तिन्हन्
	तउन्, तौन् (पश्चिमी)	तउने, तौने,
वि०	ते, तवना, तौना	तवने, तवनन्, तवन्स्, सभन्
	तेह्, तिन्हि्, तिन्हि (पूर्वी)	तिन्ह, तिन्हि लोग्
	तेहि, तेन् (पश्चिमी)	तेन्, ते पचे
संबंध	सेकर्, तेकर्, ते कऽ	
	तिन्हिकरा, तेकरा, सेकरा (पूर्वी)	
	तेनकय्, तेहिकय् (पश्चिमी)	

(क) नित्यसंबंधवाचक या संगतिवाचक सर्वनामों का प्रयोग जैसा कि पहले कहा जा चुका है (५. ग) संबन्धवाचक सर्वनामों के साथ-साथ होता है। इनके 'स' एवं 'त' श्रेणी के रूप प्रचलित हैं। संस्कृत 'तद्' के रूप भी दोनों श्रेणियों के हैं।

वर्त्तमान 'से' रूप का प्राचीन रूप 'सो' था जो संस्कृत 'सः' का प्रतिनिधि है। 'से' रूप संभवतः 'ते', 'के' एवं 'ये' के वजन (analogy) पर व्यवहृत होने लगा है।

'त' श्रेणी के रूप संस्कृत 'तत्' श्रृंखला से संबंधित हैं। टर्नर महोदय 'तवन' को 'कवन' के आधार पर 'ता-औन' से विकसित मानते हैं। डॉ० सक्सेना के विचार से उनका संबंध 'ताम्+उन' (तत् पुनः) से है। बहुवचन वाले रूप उनके मतानुसार षष्ठी बहुवचन के 'नाम्' वाले रूपों के योग से बने हैं। बहुवचन के रूप समुदाय बोधक शब्दो के योग से भी बनाए जाते हैं। संबंध कारक के रूप संबन्धवाचक प्रत्ययों के योग से बने हैं। वस्तुतः एक या किसी सर्वनाम की रूपश्रृंखला के अनुकरण (वजन=एनालजी) पर इतर सर्वनामों की रूपश्रृंखलाएँ विकसित हैं। यथा—'कौन' के अनुकरण पर 'जौन', 'तौन' आदि।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

§७ प्रश्नवाचक सर्वनामों के दो रूप प्रचलित हैं (१) सजीव वर्ग के लिए और (२) निर्जीव वर्ग के लिए। परन्तु दोनों वर्गों के लिए ये रूप पूर्णरूपेण भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इनमें कुछ रूप सामान्य हैं जो दोनों वर्गों के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं पर कुछ ऐसे हैं जिनका प्रयोग केवल निर्जीव वर्ग में ही सीमित है। ऐसे रूपों को अलग से दिया जाएगा।

इस सर्वनाम में भी आंचलिक भेद कम पाए जाते हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी अंचल में प्रचलित विशिष्ट रूपों को यथास्थान दिया जाएगा।

	एक वचन	बहु वचन
अवि०	के, कवन्, केवन्	कवने, केवने, केके
	केवना, कवना (पूर्वी)	के लोग्, कवन् स
	को, कउन् (पश्चिमी)	

	एक वचन	बहुवचन
वि०	किन्, किन्ह्,	किनहन्, किनहन्
	कवना (पूर्वी)	कवनी का
	केहि (पश्चिमी)	किन्ह्
संबन्ध	कवने क,	
	के कऽ, केकर्	
	केकरा, किन्हिकरा (पूर्वी)	
	केहकर्, केनकर् (पश्चिमी)	
	केवल निर्जीव (Inanimate) वर्ग के लिए	
अवि०	का, केयुआ, काहें	का का,
	काहू, केथी (पूर्वी)	
	को, काउ, काव् काहे, केहि (पश्चिमी)	
वि०	का, केयुवा, कित्थू, काहें के	

§७. (क) प्रश्नवाचक सर्वनाम के 'के', 'केवन', 'कवन', 'कउन' आदि रूप खड़ीबोली कौन के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'काहें या काहे के' का अभिप्राय 'क्यों' और 'क्योंकर' है। 'का' वाले रूपों का प्रयोग हिन्दी 'क्या' के स्थान पर किया जाता है।

(ख) इस सर्वनाम के सभी रूपों का सम्बन्ध संस्कृत 'क' शृंखला के रूपों से है। 'कवन' या 'कउन' का संस्कृत कः पुनः (>कवुणः>कउण>कउन) से सीधा सम्बन्ध है।

'को' का विकास संस्कृत 'कः' से हुआ है।

'के' का संस्कृत बहुवचन 'के' से सम्बन्ध हो सकता है। तिवारी जी (§२३३) इसकी उत्पत्ति 'ककः>ककें>कगे>कए>कै>के क्रम से मानते हैं। हिन्दी और उसकी बोलियों में ये रूप 'प्राकृत:अपभ्रंश' के 'कवणु' से आए हैं।

'का' संस्कृत 'कस्य' से सम्बन्धित है।

निर्जीव पदार्थों के लिए प्रयुक्त 'का' संभवतः 'काहहिं' से संबन्धित है। 'किन्', 'किन्ह्' आदि रूप 'केषाम्'>'काणं>पालि 'किण' से विकसित हुए हैं।

'काहें', 'केथुआ', 'कित्थू' आदि रूपों की ठीक-ठीक व्युत्पत्ति नहीं मिलती। संभवतः इन्हीं रूपों के वजन पर आजमगढ़ की बोली के संकेत वाचक, संबंधवाचक एवं संगतिवाचक सर्वनामों के निम्नलिखित रूप विकसित हुए हैं।

केथुआ, कियुआ, कित्थू
एथुआ, इथुआ, इत्थ्
जेथुआ, जिथुआ, जित्थू
तेथुआ, तिथुआ, तित्थू
ओथुआ, उथुआ, उत्थू

इनका प्रयोग प्रायः साथ-साथ या उत्तर-प्रत्युत्तर में किया जाता है यथाः—

तूं आम केथुआ, किथुआ या कित्थू से तोरबा ?

(तुम आम किससे तोड़ोगे ?)

हम आम एथुआ, इथुआ या इत्थू से तोरब।

(मैं आम इससे तोडूंगा।)

जेथुआ, जिथुआ या जित्थू में खाइं तेथुआ, तिथुआ या तित्थू में छेद न करीं।

(जिसमें खाएँ उसमें छेद न करें)

गाड़ी केथुआ, किथुआ या कित्थू से चले ले ?

(गाड़ी किससे चलती है ?)

गाड़ी ओथुआ, उथुआ या उत्थू से चले ले।

(गाड़ी उससे चलती है।)

निजवाचक (reflexive) सर्वनाम

§८. एकवचन बहुवचन

अपना, अपने, आपन् अपनन्

इस सर्वनाम का प्रयोग निजत्व का बोध कराने के लिए सभी नाम एवं सर्वनाम पदों के साथ किया जाता है। बहुवचन में प्रचलित अपनन् रूप के अतिरिक्त यदाकदा एकवचन के रूपों का भी बहुवचन के अर्थ में प्रयोग होता है। बहुवचन रूप प्रायः उत्तमपुरुष एवं मध्यमपुरुष के लिए संयुक्त रूप से होता है। यथा—

अपने या अपनन् के कवन् गरज् वा ?

(हम लोगों को (मुझे-तुझे) क्या गरज है ?)

(क) विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर इस सर्वनाम में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग-भेद भी होते हैं। स्त्रीलिङ्ग रूप प्रायः—इ या—ई प्रत्यय के योग से बनते हैं यथा—

आपन् लइका पियार् होला।

(अपना लड़का प्यारा होता है।)

हम् आपनि गाइ बेंचब्।

(मैं अपनी गाय बेंचूंगा।)

अपनी बिटिया क् बिआह् परल् बा।

(मेरी लड़की की शादी पड़ी है।)

बातचीत में पूछ ताछ के समय आदर सूचक 'राउर' या 'आप' सर्वनामों का प्रयोग भी कभी-कभी निजवाचक सर्वनाम के लिए होता है। यथा—ई केकर लइका ह ? (यह किसका लड़का है ?) के उत्तर में प्रायः लोग कहते हैं रउरय् या आपे क् लड़का ह। (आपका ही लड़का है) यहाँ 'रउरय या आपे क निजत्वसूचक हैं और 'अपना' अर्थ सूचित करते हैं।

(ख) इस सर्वनाम के रूपों का संबंध संस्कृत 'आत्मनः' (या आत्मन्) से है। 'आपन्' 'अप्पण' से होते हुए विकसित हुआ है।

इस सर्वनाम के लिए फारसी 'खुद' शब्द का भी व्यवहार होता है। इसका 'खुदे' या 'खुदय' रूप भी इस बोली में चलता है यथा–तूँ खुद इ काम् करा। तुम स्वयं यह काम करो। तूँ खुदे या खुदय ई काम् करा। (तुम स्वयं ही यह काम करो)।

अनिश्चय वाचक (Indefinite) सर्वनाम

§ ९. आजमगढ़ की बोली में निम्नलिखित अनिश्चयवाचक सर्वनाम प्रचलित हैं। इनका प्रयोग विशेषण के समान भी किया जाता है।

§ ९.१ अउर

(१) अवि०—अउर्, अउरु, अउरुन्

वि—अउरँ, अवरँ, अउरुए, अउरुवे

इसका प्रयोग अन्य तथा अधिक के अर्थ में होता है।

यथा—अउर् लेबा ?—और लेवेंगे।

तोहार् बाति अउर् ह।—तुम्हारी बात और है।

विकारी रूपों का प्रयोग प्राय: विशेष बल देने के लिए होता है यथा—

उनक बाति अउरुए, अउरे या अउरुवे ह।—उनकी बात और ही है।

विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर इसमें विशेष्य के अनुरूप लिङ्ग-भेद होते हैं। स्त्रीलिङ्ग रूप-इ या—ई प्रत्यय के योग से बनते हैं। यथा—अउर्-अउरि—अउरी

(२) आन् तथा पर्

अवि०-आन्, परे

वि०-आने, पराए, पर्

इन सर्वनामों का प्रयोग 'अन्य' के अर्थ में होता है। यथा—

ई धान आन् क् ह।—यह धान दूसरे का है।

आने क् चीज ना छुए के।—दूसरे की वस्तु नहीं छूनी चाहिए।

पर् क् धन कामे ना आवेला।—दूसरे का धन काम नहीं आता।

पराए या पर् क् असरा ना जोहे के। दूसरे का आसरा नहीं देखना चाहिए।

(३) केहू

अवि०—केहू, केऊ, कवनो

केन्, केउ (पश्चिमी)

वि०—केहु, केहुवय्, कवनो, कौनो

इस सर्वनाम का प्रयोग 'कोई' अर्थ में होता है।

यथा—केहू आवत् ह। कोई आ रहा है।

केहु या केव् ना बोली। कोई नहीं बोलेगा।

इस सर्वनाम का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है पर इसमें लिङ्ग-भेद नहीं होता। यथा—केहू राजा, केहू रानी। कोई राजा कोई रानी।

(४) कुछ्

इस सर्वनाम का प्रयोग 'कुछ' या कोई चीज अर्थ में निर्जीव पदार्थों के लिए किया जाता है।

अवि० कुच्छू, कुछ्
वि० कुछऊ, किछऊ, किछुओ

उदाहरणार्थ—कुक्छू दा। कुछ दो।, कुछ् मत् पूछा। कुछ मत पूछो। किछऊ जिन् कहिहा। कुछ भी मत कहना आदि।

(५) सब्, सभ्

अवि०—सब्, सभ्, स, सवन्
वि०—सबय्, सभे, सभय्, सवने

यह सर्वनाम 'सब' अर्थ मे प्रयुक्त होता है यथा—

सब् या सभ् चलि गयल्। सभी चले गए।
सबय् या सभय् चलि जाइ। सभी चले जाएँगे।

'सबय्' का व्यवहार पश्चिमी अंचल में अधिक होता है। पूर्वी अंचल में 'सभे' अधिक प्रचलित है। यथा--सभे कहलऽ। सभी ने कहा।

§९.२. (क) 'अउर' सर्वनाम संस्कृत 'अपर' से विकसित हुआ है। 'आन्' का संबंध संस्कृत 'अन्य' से जान पड़ता है। 'पर' या 'पराया' संस्कृत 'पर' या 'अपर' से संबंधित हैं।

(ख) 'केऊ' या 'केहू' का विकास संस्कृत 'कोऽपि' से हुआ है। 'कुच्छू' कुछऊ या किछऊ रूप का संबंध संस्कृत 'कश्चित्' से है। 'सब्' 'सभ्' संस्कृत सर्व>सव्व>सब्>सभ् से विकसित हुए हैं।

यौगिक सर्वनाम (Compound Pronun)

§ १०. अनिश्चयवाचक सर्वनाम–सब्, तथा केहू का संबंधवाचक एवं नित्यसंबंधवाचक या सगतिवाचक सर्वनामों के साथ संयुक्त प्रयोग होता है। यथा:--'जे सब' (जो सब) 'जवन् स' 'जवने स' आदि। 'तवन् स' (वे सव) 'जे केहू' (जो कोई)। 'तवन् केहू' (वे कोई) आदि।

'सब्' तथा इसके अन्यरूपों का प्रयोग पुरुषवाचक सर्वनामों के साथ भी होता है यथा---'हमहन् सभन्' 'हम सभे' (हमलोग) 'तूं सभे', 'तोहन् सभे', (तुम लोग।)

अनिश्चयवाचक 'अउर' तथा केहू एवं कुछ, सर्वनामों का भी संयुक्त प्रयोग होता है। यथा:—'अउर् केहू' (और कोई) अउर् कुछ्, कुच्छू (और कुछ) इसी प्रकार 'सब्' का भी 'केहू' एवं 'कुच्छू' के साथ संयुक्त प्रयोग होता है यथा:—'सब् केहू' सब कोई। सब् कुछ, (सभी कुछ)।

पूर्वमध्ययुगीन हिंदू समाज में शिक्षा

(शिक्षा-पद्धति संबंधी नवीन विवरण)

डॉ० जयशंकर मिश्र
इतिहास विभाग

भारतीय समाज में प्राचीन काल से शिक्षा का प्रबंध योजनाबद्ध और सुनियोजित था। गुरु-आश्रम में रहकर विद्याध्ययन किया जाता था। वेद, पुराण, धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि सभी विषयों की शिक्षा सम्यक् रूप से विद्यार्थियों को दी जाती थी। पूर्व-मध्ययुगीन हिंदू समाज में शिक्षा प्रणाली कैसी थी, विद्यार्थियों को किस प्रकार और किन-किन विषयों की शिक्षा दी जाती थी, इस पर अरब-लेखक अलबीरूनी ने सुस्पष्ट और सविस्तार लिखा है। वह अनेकानेक विषयों का ज्ञाता था। वह महमूद गजनी का दरबारी लेखक था। उसने १०२७-२८ ई० के बीच भारत की यात्रा की थी[१]। निश्चय ही वह केवल पंजाब के ही कुछ स्थानों का भ्रमण करके गजन लौट गया था, किन्तु भारतीय ग्रन्थों और ऐतिह्यों का उसने बड़े मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। तत्पश्चात उसने भारत संबंधी 'तहकीकमालिल्हिंद' नामक ग्रन्थ १०३१ ई० में पूर्ण किया जिसमें उसने तत्कालीन भारतीय शिक्षा और विद्याध्ययन पर अपने विचार प्रकट किए हैं, जिससे तद्युगीन समाज की शिक्षा-पद्धति पर नवीन प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत निबंध में अलबीरूनी के तत्तत् विवरण का समसामयिक भारतीय लेखकों के विवरण से तुलनात्मक विश्लेषण किया जा रहा है। साथ ही, राजस्थान के संग्रहालयों में सुरक्षित उन परवर्ती मध्ययुगीन अप्रकाशित अपभ्रंश कथात्मक हस्तलेखों का भी उपयोग किया गया है जिनसे शिक्षा की उस परंपरा का प्रवाह मिलता है जो अलबीरूनी के पहले से मध्ययुगीन समाज में प्रसरित थी।

विद्यारम्भ

हिन्दू समाज में विद्यारंभ पाँच वर्ष की आयु से हो जाता था। मध्ययुगीन अपरार्क[२] और स्मृतिचन्द्रिका[३] ने मार्कण्डेयपुराण को उद्धृत करते हुए संतान के विद्यारंभ की अवस्था पाँच वर्ष निर्देशित की है। संस्कार-प्रकाश[४] और संस्काररत्नमाला[५] में भी विद्या का आरंभ उपनयन के पहले पाँच वर्ष की अवस्था से माना गया है। अलबीरूनी का ज्ञान

---

[१] Mishra, J. S. : Some Observations on Albiruni's Stay and Travel in India,' Bharati, Bulletin of the College of Indology, B.H.U., No. 5, P-I, 1961-62, pp. 66-74.

[२] अपरार्क, पृ० ३०-३१। [३] स्मृतिचंद्रिका, १, पृ० २६।'

[४] संस्कारप्रकाश, पृ० २२१-२५।

[५] संस्काररत्नमाला, पृ० ९०४-७।

इस संबंध में अद्यतन नहीं है। उसने ब्रह्मचर्य आश्रम से ही विद्या का प्रारंभ माना है[1]। जैन अपभ्रंश ग्रंथ विद्यारंभ की आयु आठ वर्ष बताते हैं। जिनदत्त[2], भविष्यदत्त[3], धनकुमार[4], श्रीपाल[5], जंबूस्वामी[6] आदि कथानायकों ने आठ वर्ष की आयु में गुरु के आश्रम में जाकर शिक्षा ग्रहण की थी।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने बच्चों की आरम्भिक शिक्षा 'सिद्धमचंग' से प्रारंभ होना बताया है। 'सिद्धम्' सफलता का द्योतक था। 'सिद्धम' की समाप्ति के पश्चात् सातवें वर्ष पंचविद्याओं का अध्ययन कराया जाता था। वे पंचविद्याएँ थीं : १—शब्दविद्या (जिसे व्याकरण भी कहा जाता था), २—शिल्पविद्या (जिससे अनेक शिल्प और कलाओं का ज्ञान प्राप्त होता था), ३—चिकित्सा विद्या, ४—हेतुविद्या (न्याय अथवा तर्क) और ५—अध्यात्म विद्या (दर्शनशास्त्र)[7]। इत्सिंग ने भी बालकों की प्रारंभिक शिक्षा का आरंभ 'सिद्धिरस्तु' नामक पुस्तक से माना है, जिसमें वर्णमाला, स्वर और व्यंजन का विनियोग था[8]।

प्रारंभिक शिक्षा में लेखन-उपकरण

प्रारंभिक शिक्षा में छात्र को लिखने के लिए काली पटिया और खड़िया दी जाती थी। लंववत पटिया (तख्ती) पर बाँएँ से दाएँ खड़िया से लिखने का वह अभ्यास करता था। अलबीरूनी लिखता है कि वे बच्चों के लिए विद्यालय में काली पटरी प्रयोग में लाते हैं और उस पर लम्बाई की ओर से, न कि चौड़ाई की, बाएँ से दाएँ सफेद वस्तु से लिखते हैं[9]।

आज भी भारतीय पाठशालाओं में, अनेकानेक नवीन उपकरणों के अतिरिक्त, कालिख पुती हुई काठ सी पटरी पर खड़िया (दुधिया) से लिखा जाता है। अलबीरूनी ने जिस सफेद वस्तु का निर्देश किया है वह निश्चय ही दुधिया रही होगी। बच्चों को पटरी की लम्बाई की ओर से बाएँ से दाएँ लिखने के लिए सभी पाठशालाओं में बताया जाता है। नागरी लिपि की यही प्रकृति भी है।

गुरु-आश्रम में विद्याध्ययन

गुरु के निकट रहकर प्राचीनकाल[10] में तो छात्र विद्याध्ययन करते ही थे, मध्यकाल

---

१ Al Albiunis India : Sachau, Vol. II, p. 130.

२ जिणयत्तचरिउ—पं० लाखू, अप्रकाशित जयपुर-प्रति।

३ भविसयत्तकहा—बड़ौदा संस्करण, १९२३।

४ धणकुमारचरिउ—संधि दो, अप्रकाशित, जयपुर-प्रति।

५ सिरिपालचरिउ—अप्रकाशित, जयपुर-प्रति।

६ जम्बूसामिचरिउ—अप्रकाशित, जयपुर-प्रति।

७ Watters, I, p, 155.

८ Itsing : Records of the Buddhist Religion-Takasus, p. 165.

९ AI, Vol. I, p. 182.

१० छांदोग्य उपनिषद्, ७·१·२, १·४, ७·१; याज्ञ० १४४-४५; विष्णु पु० ३९·१।

में भी करते थे। इस आवास-काल में वेद-स्मृति, आचार, धर्म, दर्शन आदि के अतिरिक्त शिल्प, कला, कारीगरी आदि की भी शिक्षा विद्यार्थियों को मिलती थी[1]।

अलबीरूनी लिखता है कि उसका कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य का पालन, भूमि को अपना बिछौना बनाना, वेद और उसके भाष्य का तथा ब्रह्मविद्या (दर्शन) और धर्मशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ करना है। यह सब उसको एक गुरु पढ़ाता है, जिसकी वह दिन-रात सेवा करता है[2]।

जैन कथा-ग्रन्थों से विदित होता है कि गुरु आश्रम में रहकर छात्र पुराण, आगम विभिन्न शास्त्र, व्याकरण, छंद अलंकार, ललितकला, नृत्य, संगीत आदि की भी शिक्षा ग्रहण करता था। नायकुमार चरिउ से स्पष्ट होता है कि नागकुमार ने ६४ कलाओं और १८ लिपियों का अध्ययन किया था[3]।

गुरु और शिष्य का संबंध

समाज में गुरु और शिष्य का संबंध अत्यंत घनिष्ठ था। शिष्य का यह कर्त्तव्य था कि वह गुरु की दिन-रात सेवा करता, और गुरु का यह कर्त्तव्य था कि वह शिष्य को पुत्रवत स्नेह करता तथा उसकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करता[4]। किसी भी अध्यापक को यह उचित नहीं था कि वह किसी विद्यार्थी को अपेक्षित ज्ञान से वंचित रखता। विद्या अध्यापक की संपत्ति न मानकर धरोहर मानी जाती थी[5]। किन्तु लक्ष्मीधर राष्ट्रीयता को महत्व देते हुए कहता है कि जो अध्यापक देश का शत्रु हो उससे विद्यार्थियों को संपर्क नहीं रखना चाहिए[6]।

वेद का अध्ययन

तद्युगीन समाज में वेद का अध्ययन पहले की ही तरह किया जाता था। देश के अध्येता वेद का अध्ययन करके सोल्लास वैदिक यज्ञ करते थे।[7] वेदाध्ययन के संबंध में अलबीरुनी द्वारा दी गई सूचना ठीक है। मेधातिथि[8], विश्वरूप[9], अपरार्क[10], आदि मध्य-

---

१ स्मृतिचंद्रिका, २, पृ० १९५। ² AI, Vol. II, p. 136.

३ काल रक्खइ गणियइ गंधव्वइ वायरणाइं सिक्खिउ।
सो णिच्चं पढंतु हुड़ वाएसरिणिरिक्खिउ।।
दुवइ छंदलंकारइं णिग्घटएं जोइ साइं गहमणपयदृइं।
कव्वइं णाडयसत्थइं सुणिमइ पहरपारं णीसेसइं गुणिमइं।।
—नायकुमारचरिउ, ३·१, कारंजा संस्करण, १९३३-३४।

४ कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारी कांड, पृ० १९९-२०१, २१०-२२७, २४०-२४३।

५ वही, पृ० २४०; आपस्तंब (१८·२४-२८) को उद्धृत करते हुए।

६ कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकांड, पृ० २४२, मनु० (२·११४) को उद्धृत करते हुए।

७ EI (Epigraphia Indica) I, p.41.

८ मेधातिथि—मनु० ३·१। ९ विश्वरूप—याज्ञ० १·५१।

१० अपरार्क, पृ० ७४-७५; मेधातिथि—मनु० ३·१९।

युगीन लेखकों के अनुसार छात्र को गुरु के सान्निध्य में रहकर वेद का वास्तविक ज्ञान और धर्म की समस्त धाराओं को समझना था। लक्ष्मीधर बृहस्पति को उद्धृत् करते हुए लिखता है कि ब्राह्मणों का पहला कर्तव्य है कि वे वेद पढ़ें तदनंतर 'स्मृति' और 'सदाचार[१]'।

प्राचीन काल से ब्राह्मणों को ही वेद पढ़ाने का अधिकार था। अलबीरुनी के अनुसार ब्राह्मण वर्ग का ही व्यक्ति वेद पढ़ा सकता था, और किसी वर्ण का नहीं[२]। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वेद का अध्ययन कर सकते थे, और अन्य कोई वर्ण नहीं[३]। मध्यकालीन लेखक लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मण वेद की शिक्षा देता था[४]।

स्मृतिचन्द्रिका[५] और कृत्यकल्पतरु[६] के अनुसार एक वेद का अध्ययन करना ही यथेष्ट था, जो बारह वर्ष के लिए उपयुक्त था। लक्ष्मीधर ने जीवनपर्यन्त छात्र रहने वाले नैषधीक ब्रह्मचारी का उल्लेख किया है।[७]

जो लोग वेद को पूरी तरह नहीं पढ़ सकते थे, उन लोगों के लिए हलायुध ने मंत्रों को इकट्ठा कर 'ब्राह्मणसर्वस्व' लिखा। उसने अपनी रचना के विषय में स्वयं लिखा है कि वाजसनेयी, राठीय और वरेन्द्र ब्राह्मणों के लिए इसकी रचना की गई है।[८] यह निश्चित है कि वेदों के कुछ अंश ही छात्रों को याद होते थे।

संपूर्ण वेदों का अध्ययन-क्रम समय के प्रवाह में मंद पड़ गया। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के इन उल्लेखों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि सभी वेदों में पारंगत होना अपेक्षित नहीं था। किन्तु सातवीं सदी के बाण के उल्लेख से विदित होता है कि उसने षडंग सहित वेदों का सम्यक् अध्ययन किया था।[९] ह्वेनसाँग का भी यही कथन है कि ब्राह्मण चारों वेदों का अध्ययन करते थे।[१०]

वेद का पाठ : मौखिक

वेद का ज्ञान स्मरण शक्ति पर ही आधारित था। इसकी शिक्षा मौखिक दी जाती थी।[११] अलबीरुनी लिखता है कि वे वेद को लिखने की स्वीकृति नहीं देते थे। क्योंकि यह स्वर के

---

१ कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकांड, पृ० २६६-६७।
२ AI, Vol. II, p. 136.
३ Ibid, Vol. II, p. 136.
४ कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकांड, पृ० २५२।
५ स्मृतिचंद्रिका, १, पृ० २९।
६ कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकांड, पृ० २६३।
७ वही, पृ० २७१-७४।
८ ब्राह्मणसर्वस्व, पृ० ३८। Cf Our Heritage : Durgamohan Bhattacharya, vol. I, p. 147, 1955.
९ "सम्यक् पठित सांभो वेदः श्रुतानि च यथाशक्ति शास्त्राणि" हर्षचरित् पृ० १२३।
१० Watters, I, p.155.
११ दक्ष० २·३४; मिताक्षरा—याज्ञ० ३·११०; अपरार्क० पृ० १२६।

निश्चित उतार-चढ़ाव पर विवृत किया गया है और इस तरह वे लेखनी का प्रयोग इस कारण उपेक्षित करते हैं कि कुछ त्रुटियाँ न हो जायँ और लिखे गए पाठ में कुछ कमी-वेसी न हो जाय। परिणाम यह हुआ कि वे अनेक वार वेद को भूले और गवाए।[१]

वेद के मौखिक पाठ का प्रचलन तो १२ वीं सदी तक था।[२] किन्तु वेद के लिपिबद्ध होने का उल्लेख अलबीरुनी ही करता है, फलतः हमारे समय से वहुत पहले ही कश्मीरवासी प्रसिद्ध ब्राह्मण वसुक्र ने अपनी इच्छा से वेद को लिखने और व्याख्या करने का कार्य लिया। वह ऐसा कार्य था जिसे करने में प्रत्येक व्यक्ति पीछे हटता था, लेकिन उसने इसे समाप्त किया। वह भयभीत था कि वेद भूल न जाय और मनुष्य की स्मृति से पूर्णतः निकल न जाय, क्योंकि उसने देखा कि लोगों के चरित्र गिरते गए और उन्होंने न सद्‌धर्म पर ध्यान दिया न कार्य पर।[३]

वेदाध्ययन का स्थान

वेदाध्ययन में ऐसा निर्देश था कि घर से बाहर उन्मुक्त वातावरण में ही वेद का पाठ करना चाहिए। इसीलिए गुरु और शिष्य नगर और ग्राम से दूर एकान्त स्थान में निवास करते थे। अतः गुरु के आवास को 'गुरुकुल' कहा जाता था। विद्याध्ययन का यही स्थल ब्रह्मचर्य आश्रम था। अलवीरुनी लिखता है कि वेद में कुछ ऐसे अंश हैं जिनका वर्णन गृहस्थी में रहने वालों के बीच नहीं होना चाहिए। वे आशंका करते हैं कि कहीं यह औरत और भैंस के गर्भपात का कारण न हो। अतः वे इसका वर्णन करते समय बाहर खुले मैदान में चले जाते हैं। इस तरह शायद ही ऐसे श्लोक हों जो ऐसे प्रमुख आदेश से विरत हों।[४]

लक्ष्मीधर के अनुसार वेद न सड़क पर, न नगर में पढ़ा जाना चाहिए और न शूद्र के संमुख, न असभ्य के, वल्कि खुली जगहों में पढ़ा जाना चाहिए।[५]

'गुरुकुल' में निवास करके विद्याध्ययन करने की प्रणाली प्राचीनतम है। ७ वीं सदी के बाण के उल्लेख से विदित होता है कि गुरुकुल में अध्ययन की विधि तद्‌वत चली आ रही थी। वाण ने स्वयं गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की थी।[६]

वेद के अध्ययन की त्रुटिपूर्णरीति

वेद के अध्येताओं के विषय में अलवीरूनी यह कहता है कि ब्राह्मण लोग बिना अर्थ समझे ही इसका (वेद का) पाठ करते हैं। इसी प्रकार इसे वे कंठस्थ कर लेते हैं; एक का सुनकर दूसरा स्मरण कर लेता है। ब्राह्मणों में वेद जानने वाले बहुत कम हैं। उन लोगों की संख्या तो और भी अल्प है जिनकी विद्वत्ता ऐसी ही हो जो वेद के विषयों और उसकी व्याख्या पर धार्मिक विवाद कर पावे[७]।

---

१ A I, vol. I, pp. 125-26.

२ कृत्यकल्पतरु, दानकांड, पृ० २०७, २१३।

३ A I, vol. I, pp. 126-27.

४ Ibid, vol. I, p. 127.

५ कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकांड, पृ० २५७–५९।

६ हर्षचरित, पृ० ६६।

७ Al, vol I, p, 135.

अलबीरुनी का यह कथन कि ब्राह्मण वेद को बिना समझे पढ़ते हैं यह निरुक्त[1] के इस कथन से साम्य रखता है कि जो वेद का अध्येता है वह इसका अर्थ नहीं जानता। भारत में सामान्यत: वेद को वही ब्राह्मण पढ़ते थे जो इसका अर्थ और व्याख्या करपाने में समर्थ थे। लेकिन कभी-कभी अर्थ और व्यांख्या न कर पाने वाले भी पढ़ते थे। व्यास के कथन को विस्तार से विवृत्त करते हुए अपरार्क[2] ने मात्र वेद कंठस्थ करने की रीति की आलोचना की है। मेधातिथि ने भी यही विचार प्रकट किया है। वेदाध्ययन की त्रुटिपूर्ण रीति की आलोचना आदित्यसेन के इस कथन से भी होती है कि वैदिक ज्ञान की यह परम्परा उन वेद वक्ताओं की नहीं थी, जो वेदज्ञ होने का दावा करते थे? वे नियमानुसार वेद पढ़ते थे किन्तु छिछले रूप में; एक भी शब्द समझ सकने में असमर्थ। वे केवल पाठ से ही संतुष्ट थे[4]।

अन्य विषयों का अध्ययन

बाण के अनुसार ब्राह्मण गुरु नियमित रूप वे वेद, व्याकरण, मीमांसा आदि की शिक्षा देता था। गुरुकुल में वेदों का निरंतर पाठ होता था। यज्ञ की अग्नि जलती थी। अग्निहोत्र होता था तथा ब्राह्मण उपाध्याय ब्रह्मचारियों को पढ़ाने में संलग्न रहते थे[5]।

ज्योतिष, गणित, भूगोल, रसायन, भौतिकी, दर्शन, नीति, इतिहास, साहित्य, संस्कृत आदि अनेकानेक विषयों का भारत में असीम भंडार रहा है। इन विभिन्न विषयों पर प्राचीन काल से विपुल ग्रंथों का प्रणयन होता रहा है। सभी विषयों पर इतनी प्रचुर सामग्री थी कि जिनका अध्ययन कर पाना शक्य नहीं था। अलबीरूनी लिखता है कि विज्ञान और साहित्य की अन्य अनेक शाखाओं का विस्तार हिंदू करते हैं तथा उनका साहित्य सामान्यत: अपरिसीम है। इसप्रकार मैं अपने ज्ञान के अनुरुप न समझ सका[6]।

निश्चय ही किसी एक व्यक्ति के लिए विभिन्न विषयों के समस्त ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त कर पाना अत्यन्त दुष्कर है।

अलबीरूनी ने चार वेदों, अठारह पुराणों, बीस स्मृतियों, महाभारत, गौड़कृत ग्रंथ, पतंजलिकृत ग्रंथ, कपिलकृत न्यायभाषा, जेमिनीकृत मीमांसा, वृहस्पतिकृत लौकायत, आगस्त्यकृत अगस्तमत, शर्ववर्मनकृत कातंत्र, शशिदेववृत, उग्रभूतिकृत शिष्यहितावृति, पुशि का गणितविषयक सिद्धान्त, वराहमिहिर, आर्यभट्ट, वशिष्ठ आदि के विभिन्न विषयगत मतों और ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय अनेकानेक विषयों पर भारतीय ग्रंथ जन-प्रचार में थे जिनका अध्ययन भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी होता था।

---

[1] निरुक्त० १. १८।

[2] अपरार्क० पृ० ७४।

[3] मेधातिथि—मनु० ३.१९।

[4] पाकयज्ञविवृत्ति—लौंगासिगृह्यसूत्र की भूमिका में प्रकाशित (काश्मीर संस्कृत सीरीज पृष्ठ ८।

[5] हर्षचरित, पृ० १३०।

[6] Al, vol. I. p. 159.

अलबीरुनी से चार सौ वर्ष पहले, सातवीं सदी के पूर्वी चालुक्यों के एक दान-अभिलेख से विदित होता है कि भेंट पाने वाले व्यक्ति का पितामह, जो स्थानीय विद्यालय का प्राध्यापक था, वह दो वेदों में पारंगत तथा पद, क्रम, अनुक्रमणिका, कल्प, उपनिषद्, पुराण, इतिहास और धर्मशास्त्र का ज्ञाता था। भेंट पाने वाला स्वयं यज्ञ कराने में निपुण तथा उपनिषद्-इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र में दक्ष था[1]।

अलबीरुनी के समय के भारत में भी वेदों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, पुराण, ज्योतिष, व्याकरण, विज्ञान, भौतिकी और रसायन आदि का भी अध्ययन किया जाता था। जितेन्द्र, का तंत्र और हेमचंद्र के व्याकरण के नवीन समुदाय भी थे[2]। आश्वलायन,[3] वाजसनेय,[4] छांदोग्य,[5] सांख्य[6] आदि की अपनी अलग-अलग शाखा थी। स्वयं अलबीरुनी ने अपनी पुस्तक में स्थान-स्थान पर विभिन्न भारतीय विषयों की पुस्तकों से अनेक उद्धरण दिए हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि उस काल में अनेक भारतीय विषयों की शिक्षा दी जाती थी। मीमांसा, सांख्य, न्याय, चार्वाक सिद्धान्त आदि दर्शन शास्त्रों का अध्ययन किया जाता था[7]।

हिन्दू-गणित की विशेषता पर लिखते हुए अलबीरुनी का यह कथन है कि अंकों के व्यवहार में जो सहस्र से आगे जाते हैं, वे हिन्दू ही हैं, कम से कम अपनी गणित की विशेष परिभाषाओं में। ये (परिभाषाएँ) या तो उन्होंने स्वतंत्ररूप से अनुसंधित की हैं या निश्चित व्युत्पत्तियों के अनुसार निकाली हैं जबकि दोनो तरीके मिलाकर बने हैं[8]।

व्याकरण—तत्कालीन समाज में व्याकरण का भी बहुत प्रचार था। अलबीरुनी के बहुत पहले से भारत में व्याकरण के अनेक विद्वान् हो चुके थे, जिन्होंने व्याकरण पर ग्रंथ-रचना की थी। शाकट, पाणिनि, शर्ववर्मन, शशिदेव आदि अनेक विचारकों ने व्याकरण पर बहुचर्चित ग्रंथों का प्रणयन किया था। इत्सिंग के विवरण से विदित होता है कि काशिका-वृत्ति और पतंजलि के महाभाष्य का चार अथवा छः साल में अध्ययन पूर्ण होता था[9]। व्याकरणाचार्य उग्रभूति का उल्लेख अलबीरुनी ने किया है[10]। वह पंजाब के शाहियनरेश

---

१ Annual Report of South Indian Epigraphy, 1927, p. 115

२ The Struggle for Empire, pp. 319-20.

३ El, VIII, p. 154. ४ Ibid, xix, pp. 18, 19.

५ Indian Antiquery xviii, pp. 12, 13 EI, V, pp 117-18,

६ Al, xvi. p. 103; EI, viii, p. 154.

७ EI, I, p. 51.

मीमांसाद्वय पारगो गुरुः रसौ यः काश्यपीयेनये।
सांख्ये चाप्रतिमाल्लता नयनिधिन्र्यक्षोक्षपादोक्ति दृक् ।।
यश्चार्वाक—विशाख—मल मलनो दुर्वारबौद्धाम्बुधेः।
पानानन्दित कुम्भसंभभवमुनिर्दिग्वास सामन्तकः ।।

८ Al, vol. I, p. 174.

९ Altekar : Education in Anc. India, p. 128.

१० AI, Vol. I, p. 135.

आनंदपाल (११ वीं सदी का प्रारभ) का गुरु था और व्याकरणग्रंथ 'शिष्यहितावृत्ति' का रचनाकार। उग्रभूति की पुस्तक और उसके प्रचार-प्रसार कार्य पर अलबीरूनी लिखता है कि ग्रंथ पूरा कर लेने के बाद उसने इसे कश्मीर भेजा, लेकिन घमण्डी और परिवर्तन-विरोधी होने के कारण वहाँ के लोगों ने इसे नहीं अपनाया। अतः इसके विषय में शाह से शिकायत की, और शाह ने गुरु के प्रति शिष्य के कर्त्तव्य को आचरित करते हुए, उससे उसकी इच्छा को पूर्ण करने का वचन दिया। अतएव उसने २०,००० दिरहम तथा इतने ही मूल्य के उपहार कश्मीर में उनको बाँट देने के लिए आज्ञा दी जो उसके गुरु की पुस्तक पढ़ते थे। परिणामस्वरूप, उन्होंने ग्रंथ पर भीड़ लगा दी और किसी अन्य व्याकरण की प्रतिलिपि नहीं की। लेकिन, यह उनमें एक लालच की आधारशिला थी। ग्रंथ प्रचारित और अत्यन्त पुरस्कृत हुआ[१]।

विदेशियों के लिए भारतीय व्याकरण सीख पाना अत्यन्त कठिन था। अलबीरूनी ही कहता है कि हम मुसलमान इसका कुछ नहीं सीख सकते, इसलिए कि यह ऐसे मूल से निकली शाखा है जो हमारी समझ के अंतर्गत नहीं—मेरा तात्पर्य स्वयम् भाषा से है[२]।

रसायन—रसायन विद्या पर लिखते हुए अलबीरूनी प्रसिद्ध रसायनशास्त्री नागार्जुन का उल्लेख करता है। वह कहता है कि 'नागार्जुन इस कला (रसायन विद्या) का विख्यात विद्वान् था। यह सोमनाथ के निकट दहेककोट का निवासी था। वह इस विद्या में पारंगत था। उसने एक ग्रंथ की रचना की थी, जिसमें इस विषय पर लिखे गए समस्त साहित्य का सार है। यह पुस्तक अत्यंत दुर्लभ है। वह हमारे समय से कोई एक सौ वर्ष पहले हुआ था[३]।

अलबीरूनी द्वारा उल्लिखित यह नागार्जुन कोई दूसरा है। क्योंकि नालंदा में दीक्षित होनेवाले तथा माध्यंतिका दर्शन का प्रवर्तन करनेवाले प्रसिद्ध नागार्जुन का समय वाटर ने प्रायः तीसरी सदी बताया है[४]। डा० आर० सी० मजुमदार के अनुसार नागार्जुन सम्राट् कनिष्क का समकालीन था[५]। नागार्जुन उस समय का प्रसिद्ध विद्वान् था[६]। उसने विज्ञान, औषधि, ज्योतिष आदि विभिन्न विषयों पर अनेक कृतियों का निर्माण किया था[७]।

अन्यान्य विषय—इस काल में दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन भी रुचिपूर्वक किया जाता था[८]। भोज[९] का 'राजमार्तण्ड' 'भीमपराक्रम', 'भुजवल निबंध', सोमेश्वर का 'मानसो-

---

१ Ibid, p. 136. २ Ibid, p. 135. ३ Ibid. p. 189.
४ IA (Indian Antiquary) 1908, p. 206.
५ Majumdar, R. C. : Ancient India, p. 175.
६ Indian Antiquary, 1886, p. 353.
७ Keith, A. B. : The Glories of Magadh, p. 141.
८ EI, p. 59.
९ Kane : journal of Oriental Research Institute, xxiii, I p. 94-127.

ल्लास' तथा भवदेवी के ग्रंथों का निर्माण इसी काल में हुआ। विज्ञानेश्वर, अपरार्क कुल्लूक और गोविन्दराज की स्मृतियों और धर्मशास्त्रों पर टीकाएँ, इसी युग में लिखी गई। लक्ष्मीधर ने 'कृत्यकल्पतरु', वल्लालसेन ने 'आचारसागर', 'दानसागर', 'अद्भुतसागर', कृपाराज ने 'व्यवहार निर्णय', देवन्नभट्ट ने स्मृतिचन्द्रिका', हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' और जीमूतवाहन ने 'दायभागनियम' इसी मध्ययुग में लिखा। खगोलविद्या पर भोज का 'राजमृगांक' और शतानन्द का 'भासवती' ग्यारहवीं सदी में ही लिखा गया। द्वयाश्रय से विदित होता है कि चालुक्य राजा जयसिंह ने ज्योतिष के अध्ययनार्थ एक शिक्षा-संस्था का निर्माण कराया था[१]। खगोलशास्त्री भास्कराचार्य की कृतियों से विदित होता है कि खानदेश के प्रधानों ने एक विद्यालय की स्थापना की थी[२]। उस काल में तर्कशास्त्र का भी अध्ययन रुचिपूर्वक होता था। 'चक्ररक्तसंग्रह', 'प्रबोधचंद्रोदय', वाचस्पतिमिश्र कृत 'द्वैतसंग्रह', चंडीदासकृत 'काव्यप्रकाशदीपिका', शंखधरकृत 'लतकमालक' इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं[३]। यक्षपाल के गया-अभिलेख का कर्त्ता मुरारी न्याय का अध्येता था[४]। उज्जयिनी में ऊबट ने 'वाजसनेयी संहिता' पर अपनी प्रसिद्ध टीका की रचना राजा भोज के काल में ही की थी[५]।

शिक्षा और विद्या के प्रमुख केन्द्र

प्राचीन काल से तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वाराणसी आदि नगर विद्या के प्रधान केन्द्र थे। पाली साहित्य में तक्षशिला विद्या और संस्कृति का प्रधान केन्द्र वर्णित हुआ है। तक्षशिला के बाद वाराणसी ही प्रमुख क्षेत्र था जहाँ दूर-दूर के विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त आते थे। पूर्वमध्यकाल में जब मुसलमानों ने पंजाब को तहस-नहस करके अपने अधीन कर लिया तब वहाँ के विद्वान और शिक्षाविद् दूसरे प्रमुख नगरों में निवास के लिए चले गए। कुछ तो पंजाब के निकट काश्मीर प्रस्थित हो गए और कुछ वाराणसी जैसे सुदूर विद्या-केन्द्रों में चले गए। अलबीरुनी लिखता है कि हिन्दू विद्याएँ हमारे विजित प्रदेशों से भागकर काश्मीर, वाराणसी जैसे सुदूर स्थानों में चली गईं जहाँ मेरे हाथ नहीं पहुँच सकते।[६] लेकिन वाराणसी तो बहुत पहले से विद्या और शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। मध्ययुगीन अभिलेखों से विदित होता है कि वाराणसी,[७] गया[८] और नागर[९] तीर्थ में वेद आदि का अध्ययन होता था। वाराणसी और काश्मीर में अनेक उच्चतम विद्यालय थे जहाँ अनेकानेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

---

[१] द्वयाश्रय, १५।

[२] Journal of Royal Asiatic Society (N. S.) I, p. 414.

[३] Indian Historical Quarterly, xxii, I p. 131-39

[४] IA, xvi, p. 65, verse 14.

[५] Luard & Lele: Dhar and Paramar of Malawa, p. 29.

[६] AI, vol. L. p. 22.

[७] xix, p. 299.

[८] गौड़लेखमाला, पृ० ११२, श्लोक ३, कृष्णद्वारिका मंदिर अभिलेख।

[९] IA, xi, p. 102.

अलवीरुनी लिखता है कि यह नगर (वाराणसी) और काश्मीर हिन्दू विद्याओं के श्रेष्ठतम केन्द्र हैं।[१]

काश्मीर में दर्शन, साहित्य, न्याय, ज्योतिष, इतिहास आदि के प्रतिभासंपन्न विद्वान् हुए जिन्होंने साहित्यसंस्कृति के अनेक ग्रंथों की रचना की। 'हरिविजय' का रचनाकार रत्नाकर (८०० ई० के लगभग वर्तमान) 'शिवांक' का रचयिता शिवस्वामी (८५८-८८५ ई० के लगभग वर्तमान), बृहत् कथामंजरी: 'भारतमंजरी,' 'वोधिसत्वावदान' के कर्त्ता क्षेमेन्द्र (१०५० ई० के लगभग वर्तमान), 'कलाविलास', चतुर्वर्गसंग्रह', 'चारुचर्या', 'नीतिकल्पतरु', 'समयमातृका' आदि ग्रंथों के रचयिता सोमेन्द्र (क्षेमेद्र के पुत्र), अलंकारशास्त्र के आचार्य रुय्यक (११३० के लगभग वर्तमान), 'राजतरांगणी' का कर्त्ता कल्हण (११५० ई० के लगभग वर्तमान), श्रीकंठचरित के कर्त्ता मंखक (११७० ई० के लगभग वर्तमान), वेदांतग्रंथ, खंडखाद्यक, महाकाव्य नैषधीय चरित' के कर्त्ता महाकवि श्रीहर्ष कश्मीर के ही थे।

वाराणसी गहड़वालों की दूसरी राजधानी के रूप में थी[२]। प्रसिद्ध काश्मीरकवि श्रीहर्ष के पिता 'हरि' गहणवालनरेश विजयचन्द्र के सभासद थे। विख्यात काव्य नैषधचरित की रचना श्रीहर्ष ने काशी आवास में ही की थी।[३]

इस प्रकार अलवीरुनी के विवरण से पूर्वमध्ययुगीन शिक्षाप्रणाली पर नवीन प्रकाश पड़ता है।

---

[१] AI, vol. I, p. 173.

[२] IA, xxiii, pp. 16, 18, 81, I, pp. 198, 204 H; Elliot. History of India, vol. II, pp. 222-23, 300; Briggs. Frishta, I, pp. 178, 79·

[३] नैषधचरित, ११, ११८-१९।

राष्ट्रनायक नेहरू

सु० प्र० ना० सिंह 'सुरेश'
शोधछात्र, राजनीति एवं समाजशास्त्र विभाग

आधुनिक युग में, एशिया एवं अफ्रीका का एक विशाल राष्ट्र भारत, स्वतन्त्रता की दौड़ में भी अग्रदूत बना। भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के उदाहरण द्वारा परतन्त्र एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों को अभूतपूर्व नेतृत्व एवं प्रेरणा मिली[1]। अत्यन्त सहज रूप में, उपनिवेशवाद के खिलाफ भारतीय राष्ट्रनायक नेहरू के मुख से निकलने वाली आवाज ने भी उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया। साथ ही, इन नवोदित राष्ट्रों की विचारधाराओं तथा राजनैतिक आचार - व्यवहारों को भी भारत की आन्तरिक राजनीति के प्रयोगों ने व्यापक रूप से प्रभावित करने में सफलता प्राप्त की। ऐसे दृष्टिकोण के प्रकाश में खोज करने पर हमें बहुतेरे तथ्यों का सहज ही बोध होने लगता है जो नेहरू के व्यक्तित्व से प्रवाहित होकर इन नवोदित राष्ट्रों द्वारा अपने राजनैतिक आचार-विचार के क्षेत्र में व्यापक रूप से अपना लिए गए हैं अथवा उनसे प्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा ग्रहण की गई है। यद्यपि यह भी सत्य है कि इन नवोदित राष्ट्रों में इनका अस्तित्व एवं प्रभाव सर्वथा एक समान नहीं रहा। इन विकासशील राष्ट्रों एवं उनके कर्णधारों ने भारतीय प्रभाव तत्वों को अपनी-अपनी रुचि एवं आवश्यकताओं के अनुरूप पृथक्-पृथक् ढंग से ग्रहण करने या विकसित अथवा प्रयुक्त करने का प्रयास किया है, यद्यपि उनका इतिहास एक दूसरे से बहुत ही मेल खाता रहा है। ऐसे प्रयासों का संक्षिप्त तुलनात्मक उल्लेख ही इस लेख का विषय है।

नेहरू जी ही एशिया एवं अफ्रिका के राष्ट्रनायकों के बीच वह सर्वप्रथम राजनायिक प्रगट होते हैं जिन्होंने इस तथ्य का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव करने का प्रयास किया है कि नवोदित राष्ट्रों को अपने अभ्युत्थान सम्बन्धी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी गुट विशेष की 'छतरी' धारण करने की आवश्यकता नहीं है। उनकी दृष्टि में, विकासशील राष्ट्रों के लिए तो यह बात ही अधिक लाभकर एवं उपयुक्त होगी कि वे गुट निरपेक्षता की नीति अपनाते हुए विश्व के दोनों ही प्रभावशाली गुटों (साम्यवादी एवं प्रजातंत्रवादी) से समानता के आधार पर अपने विकास क्रम में अधिकाधिक लाभ एवं सहयोग ग्रहण करें[2]। अधिकांशतः नवोदित राष्ट्रों की परराष्ट्र नीतियों पर नेहरू के ऐसे दृष्टिकोण की व्यापक छाप देखी जा सकती है[3]। नेहरू ने ऐसी नीति को लोकप्रिय बनाने का भी प्रयास किया[4]।

---

१ माइकेल ब्रेचर; नेहरू, पृ० २२७।

२ माइकेल ब्रेचर; यही पृ० २१३-२१४, फ्रेंक मारिस, जवाहरलाल नेहरू, पृ० ४४२।

३ फ्रेंक मौरिस; जवाहरलाल नेहरू, पृ० ४४१।

४ डोरोथी नारमन; (संस्करण) नेहरू (फर्स्ट सिक्सटी इयर्स) वोल्यूम २, पृ० ४५८।

परन्तु स्टालिन एवं जान फास्टर डलेस द्वारा व्यवहृत किए जाने वाले भारतीय सहायता सम्बन्धी दृष्टिकोण (जिसका आधार जो हमारा मित्र नहीं वह अवश्य ही शत्रु है) के कारण भारत को एक लम्बी अवधि तक उपेक्षा का ही सामना करना पड़ा[1]। काफी विलम्ब के बाद ही रूस एवं अमेरिका भारत को उसके विकास सम्बन्धी सहायताओं के लिए सक्रिय कदम उठाने को प्रस्तुत हो सके[2]। इस परिवर्तन से आज की स्थिति पूर्ववत नहीं रही[3]। आर्थिक सहायता के माध्यम से नवोदित राष्ट्रों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने का प्रयास दोनों गुटों के बीच वस्तुतः एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा एवं कूटनैतिक युद्ध (शीत युद्ध) का प्रधान अंग बन गया है। यह तथ्य नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय नीति की सफलता एवं उसके प्रभाव का मापदंड कहा जा सकता है।

नेहरू गुट निरपेक्षता की जिस नीति के माध्यम से अपने राष्ट्र के विकास सम्बन्धी स्वप्नों को पूरा करना चाहते थे, उसका एकमात्र व्यावहारिक विकल्प यही था कि मध्यस्थतावादी सिद्धान्तों को राज्य-व्यवस्था का आधार बनाया जाता। एक ऐसी व्यवस्था काम में लाई जाती जो न तो पाश्चात्य प्रजातंत्रवादी गुट को ही सर्वथा अस्वीकार्य होती और न तो साम्यवादियों के लिए ही पूर्णतया उपेक्षणीय। नेहरू ने इस अपेक्षा का भली प्रकार अनुभव किया। भारतीय व्यवस्था के उदाहरण द्वारा उन्होंने एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों को एक ऐसी मध्यमवादी विचारधारा के ऊपर आधारित व्यवस्था-पद्धति को अंगीकृत करने की प्रेरणा प्रदान की जिसमें उदारवादी प्रजातांत्रिक मूल्यों एवं समाजवादी सामाजिक आदर्शों दोनों ही को समान महत्व के साथ 'एकमात्र विकल्प' के रूप में स्वीकार किया गया था[4]। अर्थात् भारतीय राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत समाजवाद एवं प्रजातंत्र दोनों ही जीवन पद्धतियों के तत्त्व समान रूप से व्यवहृत हैं[5]। नेहरू को इस प्रयास में काफी हद तक सफलता मिली। उनकी सफलता का मूल्यांकन इसी से किया जा सकता है कि जहाँ अमेरिकी विचारकों ने भारत को 'एशिया का श्रेष्ठतम एवं महामनतम प्रजातंत्र' मानने की प्रवृत्ति दिखाई, वहीं रूसी विचारकों ने इसे 'एक प्रकार की समाजवादी व्यवस्था' के रूप में स्वीकार कर लेने में विशेष संकोच का प्रदर्शन न किया। एशिया एवं अफ्रिका के नवोदित राष्ट्रों के राज्य संचालन सिद्धान्तों के पीछे नेहरू की ऐसी सफल नीतियों की गहरी छाप किसी भी प्रकार के संदेह से परे हैं।

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुट निरपेक्षता की नीति का सर्वाधिक सफल प्रयोग स्विटजरलैंड द्वारा किया गया। परन्तु इस प्रकार की स्विस नीति वस्तुतः अपनी प्रकृति में नकारात्मक रूप रखती है। नेहरू ने इसके स्थान पर गुट निरपेक्षता की एक ऐसी नीति को व्यावहारिक सफलता प्रदान की, जो अपनी प्रकृति एवं गुणों में

---

[1] देखिए माइकेल ब्रेचर; वही पृ० २२४।

[2] सर परसिवल ग्रीफिथ्स; माडर्न इन्डिया, १८९ से १९२।

[3] वेरा माइकेल डीन; दी नेचर आफ दी नान वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ७८।
माइकेल ब्रेचर; वही पृ० २०२।

[4] वारवरा वार्ड; इन्डिया एन्ड दी वेस्ट, पृ० २१६।

[5] वेरा माइकेल्स डीन; न्यू पेटर्नस आफ डेमोक्रेसी इन इन्डिया, पृ० १०६।

न केवल सकारात्मक प्रतीत होती है बल्कि यह 'अत्यधिक सन्नद्ध एवं क्रियाशील निरपेक्षता' का रूप ग्रहण कर लेती है।[१] एशिया एवं अफ्रीका के अधिकांशतः नवोदित राष्ट्रों की परराष्ट्र नीति का आधार आज सच पूछा जाए तो नेहरू का यही दृष्टिकोण है।

आधुनिक युग में, उदार प्रजातंत्रवादी संस्थाओं के माध्यम से संचालित राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत, समाजवादी ढंग के नियोजन एवं नियोजित अर्थव्यवस्था को सफलता पूर्वक व्यवहृत करने का श्रेय सर्वप्रथम नेहरू को ही मिलता है।[२] भारत के द्वारा इस सम्बन्ध में भी किए गए परीक्षण काफी हद तक सफल रहे।[3] इन परीक्षणों ने ही वस्तुतः नियोजित अर्थ व्यवस्था को आज इन विकासशील देशों के जीवन का अनिवार्य अंग बना देने में सफलता प्राप्त की है। नेहरू ने समाजवाद को विश्व के समक्ष एकमात्र एवं अटल विकल्प माना।[४] परन्तु इसी के साथ नेहरू ने समाजवाद के सर्वाधिक सशक्त प्रतिनिधियों-साम्यवादियों का राष्ट्र की व्यावहारिक राजनीति में सर्वदा विरोध ही किया। एक ओर साम्यवादी राष्ट्रों से घनिष्टता का हाथ बढ़ाते हुए भी अपने देश की राजनीति में उन्होंने साम्यवादी शक्ति, संगठन एवं प्रभावों का दमन करने में कभी भी हिचक नहीं दिखाई।[५] क्योंकि नेहरू के दृष्टिकोण से साम्यवादियों के, हिंसा, ध्वन्स एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील, विचार राष्ट्र के वास्तविक हितों के विरोधी थे। यदि नेहरू के समान ही एशिया एवं अफ्रिका के नवोदित राष्ट्रों के कर्नल नासिर जैसे कर्णधारों ने, (जो उन्हीं के समान पश्चिम के उदारवादीप्रजातंत्रीय व्यवस्थाओं की शिक्षण संस्थाओं की उपज है) ऐसे द्वैधात्मक आचरण से अपने राजनैतिक व्यवहारों के क्षेत्र में प्रेरणा ग्रहण की हो तो हमें उसमें आश्चर्य नहीं मानना चाहिए।

कुछ लोगों ने नवोदित राष्ट्रों के लिए एकदलीय या तानाशाही जैसी राजनैतिक व्यवस्थाओं को उनकी परिस्थितियों एवं समस्याओं की स्वाभाविक देन के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति दिखाई है।[६] परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। वस्तुतः एशिया एवं अफ्रीका के नवोदिक राष्ट्रों में एक दलीय व्यवस्था के नहीं, वरन् बहुदलीय व्यवस्थाओं को सामर्थ्य प्रदान करने वाले तथ्य ही प्रधानता रखते है।[७] भारत में भी बहुदलीय व्यवस्था को समर्थन प्रदान करने वाले ऐसे आधारभूत कारणों— जैसे जाति, धर्म, भाषा

---

१ फ्रैंक मोरिसः; वही, पृ० ४४२, ४४४। वेरा माइकेल्स डीन; यही, पृ० ८४।

२ माइकेल, ब्रेचर; वही —पृ० १९५, १९६।

३ वारवरा वार्ड' वही पृ० १४३।

४ सुनुद्रा जोशी; (सं) नेहरू आन सोशलिज्म, पृ०

५ वेरा माइकेल डीन; दी नेचर आफ दी नान वेस्टर्न वर्ल्ड पृ० ८३।
एम० एन० दास; दी पोलिटिकल फिलोसाफी आफ जवाहर लाल नेहरू, पृ० १०६।

६ एस० एस० भूर; री मार्डलिंग आफ डेमोक्रेसी फार अफ्रोएशियन नेशन्स, पृ० ७२, ११०

७ इनकाउन्टर (मासिक अग्रे० अगस्त १९६५) डब्ल्यू आर्थर लेविस का लेख बिआन्ड अफ्रिकन डिक्टेटरशिप, पृ० १८।

एवं सांस्कृतिक विविधताओं, अशिक्षा, गरीबी आदि का इन नवोदित राष्ट्रों के समान ही व्यापक अस्तित्व देखा जा सकता है।[१] नेहरू ने भारतीय स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक चरण में वस्तुतः बहुदलीय व्यवस्था के स्वागत की भी प्रवृत्ति दिखाई थी। यही नहीं वरन् उन्होंने मिश्रित सरकार द्वारा शासन व्यवस्था को राष्ट्रीय हितों से संगत करने का सीमित प्रयास भी किया था। परन्तु अपने ऐसे प्रयोगों में वे असफल ही कहे जा सकते हैं।[२] भारत के लिए जिस प्रकार की अर्थ व्यवस्था को अपनाया गया उसमें एक दृढ़, संगठित एवं स्थायी दल से समर्थित सरकार के अस्तित्व की आवश्यकता को भी क्रमशः अनिवार्य मानने पर नेहरू विवश हुए। इस अपेक्षा के अनुभव के कारण ही आगामी आम निर्वाचनों के दौरान में नेहरू ने राष्ट्रीय विकास के स्वप्न को पूरा करने के लिए कांग्रेस के हाथ मजबूत करने की अपनी अपील को विशेष महत्व दिया। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में एक-दलीय प्रणाली के महत्व को राष्ट्रीय विकास के सन्दर्भ में स्वीकार करते हुए भी प्रजातन्त्रवादी नेहरू के लिए इस व्यवस्था को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लेना सम्भव न हो सका। इस आधार पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि एशिया एवं अफ्रिका के नव-स्वतंत्र विकासशील राष्ट्रों ने अपने राजनैतिक व्यवहारों के ऐसे क्षेत्र में भी नेहरू के तत्सम्बन्धी अनुभवों से काफी प्रेरणाएँ ग्रहण की हैं। परन्तु इन देशों ने ऐसे तत्वों को नेहरू की अपेक्षा काफी आगे बढ़कर स्वीकार किया है, इनमें दो मत नहीं।

स्वयं चाणक्य के छद्म नाम से अपने चरित्र की विवेचना करते हुए यद्यपि नेहरू ने अपने को प्रजातंत्रवादी ही माना है, फिर भी वे अपने चरित्र से सम्बन्धित कतिपय ऐसी विशेषताओं की ओर संकेत भी करते हैं जो एशिया एवं अफ्रिका के नवोदित राष्ट्रों की एक दलीय शासन व्यवस्था के शीर्षस्थ राजनायकों के व्यक्तित्व से बहुत ही मेल खाती प्रतीत होती हैं। अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक ही है कि अपने देश, के जन-जीवन एवं राजनीति में मूर्धन्य प्रतिष्ठा प्राप्त नेहरू[३], विश्व की राजनीति में अपना स्थान रखने वाले नेहरू, के व्यक्तित्व से ऐसे राजनयिकों ने गहरी प्रेरणा ग्रहण की हो और उस तथ्य को और अधिक प्रच्छन्न रूप से व्यवहृत किया हो जिसे नेहरू अपने दल, सरकार, एवं देश की राजनीति में अपने निर्विवाद व्यक्तित्व के सहारे अप्रत्यक्ष रूप में ही प्रयुक्त कर डालने में सफल हो जाते थे।

सरकार एवं दल के भीतर विभिन्न पक्षों को एक साथ संगठित करते हुए स्वयं उनका संगम स्थल एवं संतुलन बिन्दु बने रहना, नेहरू की राजनैतिक दक्षता का सूचक है।[४] यदि थोड़ी भी विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करें तो एशिया एवं अफ्रीका के नवोदित देशों के विभिन्न राजनयिकों में इस प्रकार की विशेषताओं के पर्याप्त तत्व हमें सहज ही मिल

---

१ एस० एस० भूर; वही पृ० ३।

२ नेहरू ने श्री श्यामा प्रसाद मुकर्जी जैसे व्यक्तियों को भी मंत्रिमंडल में लाने का प्रयास किया—परन्तु ऐसी व्यवस्था स्थायी न हो सकी।

३ रामेश्वरी नेहरू; (भूमिका में) जवाहरलाल नेहरू दी मैन एन्ड हिज आइडियल्स, पृ० २९–३०।

४ फ्रैंक मौरिस; वही, पृ० ४८१ माइकेल ब्रेचर वही पृ० २३०।

जाएँगे। विशेषकर स्वतन्त्र हिन्देशिया की स्थापना के श्रेयभागी राष्ट्रपति सुकर्ण को 'हिन्देशिया के द्वितीय राष्ट्रपिता नेहरू' की ऐसी विशेषताओं से विशेष रूप से प्रभावित देखा जा सकता है।

परराष्ट्र नीति में, नेहरू के पंचशील सम्बन्धी सिद्धान्तों को, जिसे उन्होंने भारतीय वैचारिक परम्पराओं (बुद्ध एवं शंकर के विचार दर्शनों) के आधार पर विकसित करके[१], एवं उसे भारतीय संविधान में प्रतिष्ठित करते हुए, भारत की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवहृत करने का प्रयास किया था[२], राष्ट्रपति सुकर्ण के पंचशील संबंधी दृष्टकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन की सृष्टि करते हुए देखा जा सकता है। कतिपय अपवादों को छोड़, अन्य नवोदित राष्टों की बहु-संख्या तो इस विचार धारा की प्रगट एवं सीधी अनुगामिनी है ही।

नेहरू के धर्म एवं धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी विचारों ने भी (जिसमें न तो किसी धर्म विशेष की मान्यता को ही कोई स्थान था और न तो अधार्मिकता को ही) इन नवोदित एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों के कर्णधारों के धार्मिकता सम्बन्धी दृष्टिकोणों पर अपनी गहरी छाप डालने में सफलता प्राप्त की है। ऐसा प्रभाव हमें मिश्र के राष्ट्रपति नासिर एवं मलेशिया एवं सिंगापुर के राष्ट्र नायकों में किसी भी अन्य की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली रूप में दिखाई देगा। इन्होंने भी मानव विकास क्रम में नेहरू के समान ही धर्म का रचनात्मक महत्व स्वीकार किया है। परन्तु उसे राजनीति का आधार बनाने से वे नेहरू के समान ही अप्रस्तुत देखे जा सकते हैं। पाकिस्तान ही ऐसे राष्ट्रों में एकमात्र अपवाद है जिसने नेहरू के ऐसे धर्म एवं गुट निरपेक्षता सम्बन्धी विचारों से अपने को किसी भी अन्य देश की तुलना में कहीं अधिक उल्टी दिशा में प्रवाहित करने में सफलता प्राप्त की है।[३] इन राष्ट्रों में कुछ ही ऐसे हैं जिन्होंने नेहरू के दृष्टिकोण के विपरीत देश की एकता के लिए राष्ट्रीयता की भावना के स्थान पर धर्म को माध्यम मानने की प्रवृत्ति दिखाई है।

गम्भीरता से विचार करने पर हमें यह भी भली प्रकार विदित हो जाता है कि नेहरू के औद्योगीकरण सम्बन्धी विचारों ने भी इन नवोदित एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों की विकास सम्बन्धी नीतियों पर अपनी गहरी छाप डाली है। नेहरू ने मिश्रित अर्थ व्यवस्था को सरकारी नियोजन के अन्तर्गत संचालित किए जाने की पूर्ण व्यावहारिकता सिद्ध करते हुए, राष्ट्रीय प्रगति का एक ऐसा द्विमुखी दृष्टिकोण अपनाया जिसमें मध्ययुगीन भू-व्यवस्था पद्धति के परिष्कार के आग्रह के साथ ही आधुनिक युग की श्रेष्ठतम एटामिक आविष्कारों के प्रति भी समान रूप से आग्रह दिखाया गया था। कोई आश्चर्य नहीं जबकि हम लगभग भारत की ही सादृश्यमूलक समस्याओं से गुजरने वाले नव स्वतंत्रता प्राप्त इन राष्ट्रों को भी ऐसी ही मिश्रित अर्थ व्यवस्था के प्रति विशेष रुझान प्रगट करते हुए देखते हैं, क्योंकि नवोदित एशियाई अफ्रिकी राष्ट्रों को भारत में सफलतापूर्वक व्यवहृत होने वाली ऐसी अर्थ व्यवस्था से अधिक प्रेरणात्मक तत्व और कुछ नहीं हो सकता।

---

[२] फ्रैंक मौरिस; वही, पृ० वही। [३] माइकेल ब्रेचर; वही पृ० २४१।
[१] वेरा माइकेल्स डीन; वही, पृ० ८६।

जीवन सफल कैसे हो

श्री चन्द्रबली त्रिपाठी
स्टेट्स आफिस

(१)

हमें चाहिए कि हम भूल करने वालों को उनकी कठिनाइयों से उबारें। उन पर कड़ुए वाक्यों का खौलता हुआ कड़ाहा उलटकर हम उन्हें सुधार नहीं सकते। उनको पद-दलित करने के बजाय हमें उन्हें उठाने की कला सीखनी चाहिए।

यदि बुराई को हम सदा के लिए उखाड़ फेकना चाहते हैं तो हमें इसके पहले अपने मन की ही बुराई को खोद निकालना चाहिए। कठोर शब्दों और आदतों से न तो वैमनस्य मिटता है और न राक्षसों में देवत्व की स्थापना होती है, आलोचनापूर्ण अथवा चोट पहुँचाने वाले शब्दों की अपेक्षा मधुर शब्द हृदय पर अधिक प्रभाव डालते हैं—इसलिए विरोध भरे और कड़ुवे शब्दों से विषमता का कभी नाश हो ही नहीं सकता।

यह याद रखना चाहिए कि मुंह में लाए हुए उत्तम शब्द जीवन में सुख और समृद्धि लाते हैं और हिंसात्मक और अप्रिय शब्दों से अव्यवस्था उत्पन्न होती है। क्रोधाकुल शब्दों से हमारी पाचन क्रिया में बाधा पड़ती है तथा अन्य व्यापारों में भी उथल-पुथल मच जाती है।

आज के संसार को जितनी आवश्यकता उत्तम उत्साहवर्धक शब्दों की है उतनी और किसी वस्तु की नहीं—जो लोग ऐसा करेंगे वे लोग बिना इसका पुरस्कार पाए नहीं रहेंगे, क्योंकि आशीर्वाद प्रदान करके वे स्वयं आशीर्वाद प्राप्त करेंगे।

याद रखना चाहिए कि पत्थरों को खाकर कोई बढ़ नहीं सका, फल-फूल नहीं सका। इसी तरह कठोर शब्दों से कोई बढ़ नहीं सकता, फल-फूल नहीं सकता।

ऐसी बानी बोलिए, मनका आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपो शीतल होय ॥१॥
तुलसी मीठे बचन ते, सुख उपजत चहुँओर।
बसीकरण एक मंत्र है, तज दे बचन कठोर ॥२॥
साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप ॥३॥
कबहुँ न भाषिय कटुबचन, बोलिय मधुर सुजान।
जेहिते नर आदर करे, होय जात कल्यान ॥४॥

(२)

अपमान करके मनुष्य अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ाता है और सम्मान करके सुहृदों की। और यह भी निश्चित है कि जिसके जितने अधिक शत्रु होंगे उसकी जीवन यात्रा उतनी ही कंटकाकीर्ण, अशान्त, असहाय और लक्ष्य तक पहुँचने में संदेहयुक्त रहेगी। इसके विपरीत जिसके सच्चे मित्रों की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतना ही उसका जीवन विघ्नरहित, शान्त, सहायता से पूर्ण और सहज ही सफलता से युक्त रहेगा। मनुष्य यदि अभिमान व लोभ छोड़ दे तो दुनिया भर को अपने पक्ष में ला सकता है।

अपने मातहतों की बातें, आदर और प्रेम से समय देकर सुननी चाहिए, किसी का तिरस्कार न करें उनकी न्यायोचित माँग को पूरा करने की सहृदयतापूर्वक चेष्टा करें।

दूसरे का अनिष्ट करना बड़ा भारी पाप है और दूसरे का हित करना बड़ा पुण्य है।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

(३)

मनुष्य को उत्तम घर, उत्तम वर, उत्तम शरीर, उत्तम स्त्री तथा उत्तमपद पूर्व जन्मार्जित पुण्यों के कारण ही प्राप्त होता है। पदाधिकार पूर्व जन्म के महान पुण्य से मिलता है इसमें दो मत नहीं हो सकता। अतः इस जन्म में भी आप पुण्य ही संचय करें ताकि आपका भविष्य एवं अगला जन्म और भी उज्ज्वल हो।

आप के दोनों ओर खाईं है। तनिक भी असावधानी से आपके खाई (नरक) में गिरने का भय सदैव बना हुआ है। इसलिए खूब सोच-समझ कर ही निर्णय देना उचित है, जैसे कोई डाकू है जो दिन रात डाके में रत है किन्तु किसी प्रकार वह छूट जाता है अथवा उसके पक्ष में निर्णय हो जाता है तो निर्णय करने वाला खाई (नरक) में चला जाता है। इसके साथ ही अपराधी ईश्वरीय दण्ड से बच नहीं सकता। मानस में भगवान शंकर ने कहा था –

जो नहिं दण्ड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥

यह चौपाई ध्यान रखने योग्य है। काल की गति कोई नहीं जानता।

न जाना जानकीपति ने प्रातःकाल क्या होगा ?

श्री रामचन्द्र जी रात्रि के अन्तिम प्रहर तक यही जानते थे कि प्रातःकाल उनका राजतिलक होने वाला है। किन्तु प्रातःकाल राजतिलक के स्थान पर बनवास हो गया। अतएव कालबली से डरना चाहिए। न्याय को कभी भी न छोड़ना ही उचित है। प्रह्लाद ने सुधन्वा से पूछा कि अनुचित निर्णय करने वाले की क्या गति होती है। सुधन्वा ने बताया कि—

(१) सौत वाली स्त्री को जैसी वेदना होती है।

(२) जूए में हारे हुए और बोझ से पीड़ित मनुष्य को जैसी वेदना होती है।

(३) निकलने के लिए छटपटाते हुए कैदी और बाहर पड़े हुए भूखे को जो कष्ट होता है।

वही सब अन्यायपूर्ण निर्णय करने वाले को मिलता है। अन्यायपूर्ण निर्णय करने वाले स्वयं तो नरक में जाते ही हैं उनकी पीढ़ियाँ भी नरकगामिनीं होती हैं। तथा अन्यायपूर्ण निर्णय करने वाले का नाश हो जाता है।

———

ṚṢI

PADMA MISRA

Women's College

The word *ṛṣi* has been in use since the time of the *Ṛgveda*, but the concept denoted by the term has gradually been modified from the original sense of a gifted composer to signify a celestial being, who embodies the ideals of the Vedic religion and culture. The semantic development of this word is easy to trace. The concept in its formative stage in the *Ṛgveda*, is modified in the later Saṃhitās, and the Brāhmaṇas mark the close of the first phase of its development.

The ṛṣis of the earlier hymns are inspired poets and singers, who propitiate the gods with hymns and sacrifices and are not indifferent to social success or material gain[1]. That their prayers are also inspired by material considerations is clear from their longing for securing nourishment[2], thousands of cows[3], horses[4] and honour[5]. In the later hymns of the *Ṛgveda*, the ancient ṛṣis are elevated to an exalted semi-divine status[6], which is confirmed in the later Saṃhitās. The comparatively recent ṛṣis continue to be real and living personalities for the society described in the *Brāhmaṇas*. The change of outlook in the Upaniṣads attributes new significance to the ṛṣis. They retire to the forests, but continue to embody the ideals of the contemporary society. The class of ṛṣis though becoming a closed order[7] is still open to occasional admissions, which are discontinued in the Sūtra period[8].

---

1 *Ṛgveda*—I.1.2 ; VI 34. I ; VII. 70.5 ; VIII. 8.8

2 *RV*—VIII. 8.15 ; all subsequent unspecified references are from the *Ṛgveda*

3 I. 10.11 ; I. 179.6 : I. 189.8 ; VIII. 3.4 ; VIII ; 4.20 ; X. 33.4, etc.

4 V. 33.10

5 V. 66.5, *śrave*

6 X. 62.4 ; X. 82.2

7 *Nirukta*—XIII.12

8 *Āpastamba Dharma Sūtra*—X.5.4, *avareṣu ṛṣayo na jāyante*

Towards the end of the Vedic period the word ṛṣi begins to denote an idealized class of sages to whom the Vedas were believed to have been revealed, and who were taken to be the exponents of the *dharma*[1]. In the Epics, the Smṛtis and the Purāṇas, the ṛṣis are taken to be the representatives of a sacred and remote past and merely serve as mouthpieces for religious discourses. Like the Vedas, they are entitled to a formal respect, and like their stellar counterparts they become the silent spectators of the religious world from their lofty position as celestial beings.

The development of the concept expressed by the word ṛṣi reflects the change in religious and social values, that contributed to the modification of the established order. Ṛṣi is not the only word to be affected in this manner. Some of the other words used in the *Ṛgveda* for the composers of the hymns and the officiants at the sacrifices, later acquire more general or more specific meanings[2]. The modified concept of the word ṛṣi implies idealized holy seers, who were believed to have nourished the Vedic culture[3]. This idea of idealized personalities appears to have contributed to the formation of the representative group of seven ṛṣis, who are later considered to be the progenitors of the Brāhmaṇ gotras[4].

The word ṛṣi is not as frequently used in the *Ṛgveda*, as some of the other terms denoting a composer. More than half of the total references to ṛṣi occur in the later books, in which the ṛṣis begin to assume a character closer to that of their later image. The term ṛṣi is applied in the *Ṛgveda* to some of the poets, who invoked the gods by their hymns[5]. This apparently leads the authors of the *Vedic Index* to describe the composers in general, when discussing the word ṛṣi[6]. The *purohita* is also included in

---

[1] *Nir*—I.20; *Manu*—XII. 106

[2] kavi, dhīra, vipaścit, vipra, brahman, etc.

[3] X. 14.15, *nama ṛṣibhyaḥ pūrvajebhyaḥ pūrvebhyaḥ pathikṛdbhyaḥ*; X. 130.7

[4] *Baudhāyana Śrauta Sūtra*—Pravarādhyāya

[5] I.48.15; IV. 20.5; V. 75.1; VI. 44.13; VIII. 8.6; X. 80.5

[6] Vedic Index—I, pp. 115-8

this description, as he is said to be a singer whether acting as a *hotṛ* or *brahman* priest[1]. The ṛṣis, probably taken as the *purohitas*, are supposed to have been attached to the houses of the Vedic kings or nobles. The evidence from the *Ṛgveda*, however, does not support this assumption. The selective use of the word ṛṣi in the *Ṛgveda* eliminates the possibility that it means composers in general[2]. The surmise is supported by its use with *vāghat*, a singer[3]. In order to justify his claim to the patronage of a prince one of the poets describes himself as the ṛṣi among the singers[4]. This shows that the ṛṣi was regarded as superior to the general composer or singer of hymns.

The confusion of ṛṣi with the general singer may be due to its derivative meaning. The word is derived from the verb ṛṣ to go[5] or flow[6], and is taken to denote the person from whom the songs flow[7]. Ṛṣi, used with discrimination in the *Ṛgveda*, gradually begins to be applied to the composers of the Vedic hymns in general. According to Yāska, the followers of Upamanyu interpret ṛṣi as 'seers of hymns[8]'. This suggestion seems to have given rise to the generally accepted idea that the word ṛṣi means a seer, and that it should be derived 'perhaps from an obsolete verb *ṛish* or *dṛish* to see ?'[9] The *Amarakośa* reflects the contemporary usage and the concept expressed by the word ṛṣi, when it gives *satyavacas* (man of infallible speech), as a synonym of ṛṣi.

Another word derived from the same verb is *ṛṣu* which occurs four times in the *Ṛgveda* in connection with Agni and in

---

[1] Geldner, K. F.—*Vedische Studien*, II, p. 153;

[2] cf. Gonda, J.—*Epithets in the Rgveda*, pp. 155-6

[3] Vāghat is included in the lists of words both for the singer and officiating priest, *Nighanṭu*—III, 15 & 18

[4] X. 33.4

[5] I. 164.15

[6] IX. 54.1 ; cf. IV. 58.10 ; IX. 62.3

[7] cf. Grassmann, H.—*Wöterbuch zum Rigveda*

[8] *Nir*—II. 11 ; III. 11

[9] Monier-Williams—*Skt.-Eng. Dictionary* ; Cf. Chapekar, N.G.' Ṛṣi' in *Poona Orientalist*, 26, nos. 3-4, July & October 1961. p. 130

genitive plural[1]. The meaning of the word appears to be at a fluid stage with a bias towards its derivative sense. Geldner translates it as 'Morgenstrahlen' (morning rays), and Sāyaṇa interprets it as 'rays of the Sun' in one verse[2] and as *āgantṛ* in another[3]. In the two comparatively early verses, he takes it as a synonym of ṛṣi, which seems to suit the context[4]. It appears that the meanings of the words ṛṣi and *ṛsu* were not very distinct. This would also explain the disappearance of the latter.

When used as an adjective in the *Ṛgveda*, *ṛṣva*—another cognate of the word ṛṣi—implies sublimity or illustriousness. The sense of elevation or prominence which appears to be more pronounced in the meaning of the word *ṛṣva*, may also be taken as inherent in the term ṛṣi. This may have contributed to the idea of an exalted personality implicit in the concept conveyed by the word ṛṣi.

The ṛṣis are generally associated with the gods Agni[5], Indra[6] and Soma,[7] and occassionally with the Aśvins[8] and the Maruts[9]. The gods Indra and Varuṇa are said to have bestowed speech, reflective thought and learning on the ṛṣis in the beginning of creation[10]. This seems to have contributed to the later belief that the utterances of the ṛṣis were divine. The reference to the discovery of *vāc*, that had entered the ṛṣis appears to strengthen their claim to inspired speech[11]. Another passage, which describes the *pāvamānī* verses as the *rasa* collected by the ṛṣis, is the first reference in the *Ṛgveda* where a particular type of composition is ascribed to them[12].

---

[1] Grassmann—*WR* ; I. 127.10 ; V. 25.1 ;
[2] X. 6.1.
[3] I. 127.10
[4] V. 25.1 ; VIII. 60/71.15
[5] I. 31.1 ; III. 21.3 ; VI. 14.2 ; VI. 16.14, etc.
[6] I. 23.24 ; IV. 20.5 ; V. 29.1, etc.
[7] IX. 35.4 ; IX. 68.7, etc.
[8] V. 75.1 ; VII. 70.5, etc.
[9] V. 52.13, 14 ; V. 54.7, 14; V. 59.8
[10] VIII. 59/Vol. 11.6 ;
[11] X. 71.3
[12] IX. 67.31, 32

As there were earlier[1] and later ṛṣis,[2] so their prayers are also classified as such[3]. The references to earlier ṛṣis increase in the later books, which shows the growing regard for antiquity. In addition to the ancient sages, who are described as divine or of divine origin,[4] some of the contemporary seers also trace their origin from the gods[5]. The godlike seven sages are said to have taken up the reins of sacrifice like a charioteer, after reviewing the path of their forefathers[6]. The later Ṛgvedic period also marks their association with *tapas*. The ṛṣis are qualified as *tapasvataḥ* (practicing penance)[7], and the seven sages are referred to as sitting down for penance[8].

It is generally recognized that gaining the title of ṛṣi depended on the grace of the gods. Varuṇa is said to have made Vasiṣṭha a ṛṣi[9]. Agni and Soma are qualified as makers of ṛṣis[10]. Friendship with ṛṣis is supposed to be a qualification for securing the favour of the gods. A seer requests Indra to help Śarabha, probably a patron who is described as the *bandhu* of the ṛṣis, to enjoy the wealth of his enemy[11].

It appears that the ṛṣis had to face some opposition. Kutsa ṛṣi, when in trouble, calls upon Indra for help[12]. A poet expecting help reminds the Aśvins how they had responded to the prayers of the ancient sages[13]. The ṛṣis appeal to the Maruts to convey them and their patrons in safety under their protection[14].

---

[1] I. 48.11 ; IV. 50.1 ; VII. 22.9, etc.
[2] I. 1.2 ; IV. 20.5.
[3] VI. 34.1 ; VI. 44.13
[4] I. 164.15 ; X. 62.4 ; X. 130.7
[5] X. 62.5 ; III. 53.9
[6] X. 130.7
[7] X. 154.5
[8] X. 109.4 ; *Śatapatha Brāhmaṇa*—VI. 1.1.1 ;
[9] VII. 88.4
[10] I. 31.16 ; IX. 96.18
[11] VIII. 89/100.6
[12] I. 106.6
[13] VIII. 8.6
[14] V. 65.6

This seems to be more urgent than the usual request for protection normally addressed to the gods, as the Maruts are also asked to direct their wrath towards the man who is hostile to the ṛṣis[1]. It is not quite clear whether dāsa or dasyu, the words qualifying the opponents of the sages, have an ethnic implication or denote the enemy in general. The Aśvins are said to have repelled the *māyā* of a hostile dasyu to protect Atri[2] but they had to resort to *māyā* in order to rescue the sage Saptavadhri[3]. Indra rescues another ṛṣi by killing Namuci and rendering his māyā harmless.[4]

The ṛṣis seem to be distinguished in the *Ṛgveda* from the common man in two instances. The horses of Indra are said to carry him to the prayers of the ṛṣis and the sacrifices of the *mānuṣa* (men)[5]. Another verse distinguishes the ṛṣis, who invoke Agni by hymns, from *naraḥ*, the common men, who call out to Agni when in trouble on the battlefield[6]. The distinguishing feature of the ṛṣis, in both these verses seems to be their hymns.

The use of the word ṛṣi with *manuṣya* also deserves notice. The phrase *ṛṣayo manuṣyāḥ* occurs three times without any conjunction or separating particle[7]. Geldner translates it as 'menschlichen Ṛṣi's', which implies that these human ṛṣis are distinct from the godlike ones. It is difficult to accept this meaning as in one of these passages the ṛṣis are called 'our fathers', which raises them to a higher status than that of the ordinary men[8]. It may, therefore, be taken as comparable to the phrase *viprā narāḥ* and similar others that occur in the *Ṛgveda*, and may be interpreted as 'the men who possessed the qualities of a ṛṣi'.

---

1 I. 39.10
2 I. 117.3
3 V. 78.6
4 X. 73.7 ; cf. VIII. 51/Vāl. 3.2
5 I. 84.2
6 X. 80.5
7 X. 130.5,6 ; X. 150.4
8 Geldner, K. F.—*Der Rigveda* ; translation of the above verses ; X. 130.6

Differences in the functions of a ṛṣi and a king are also brought out in the *Ṛgveda*. The king and the sage seem to share equal importance in the verse which describes Viśvāmitra as praying to be appointed a protector of men, or a king or a ṛṣi who drinks soma[1]. In another verse composed before the ṛṣis were elevated to almost divine eminence, a ṛṣi and a king, apparently regarded as equally worthy of receiving the favour of the Maruts, are said to enjoy similar freedom from common misfortunes and troubles[2].

The word *sūri*, when it occurs with ṛṣi, is qualified by *gṛṇat*—an adjective usually applied to the officiants at sacrifices and singers of hymns[3]. *Sūri* is distinguished in this verse from ṛṣi by the conjunction *ca* and thus signifies the sacrificer, who paid for the services of the priests and the poets.

The words ṛṣi and *vipra* occur together sixteen times in the *Ṛgveda*. In five verses *vipra* is either a part of a compound[4], or is used in a different case than that of the word ṛṣi[5]. In the remaining passages both the words refer to the same person. According to Geldner *vipra* qualifies ṛṣi and the phrase means 'the ṛṣis who are inspired or have command over speech'. Sāyaṇa gives the usual meanings he assigns to the two words, that is 'the wise man' for *vipra*, and 'one who has the power to visualize things beyond ordinary human ken' for ṛṣi. In most of the verses ṛṣi is qualified by the word *vipra*[6] but in one instance the ṛṣis seem to be distinguished from the *vipras* though they appear to belong to the same class as the vipras[7].

The use of both these words as an adjective is not rare in the *Ṛgveda*. Their derivation suggests that both the terms originally implied skill in metrical composition, which is gene-

1 III. 43.5

2 V. 54.7

3 X. 115,9.

4 V. 54.14 ; VIII. 3.4

5 III. 21.3 ; IX. 96.6 ; X. 26.5

6 I. 162.7 ; III. 53.10 ; IV. 50.1, etc.

7 VII. 22.9

rally regarded as a gift from the gods. The widening distinction in their connotations is due to the different shades of meanings acquired during the Ṛgvedic age. *Vipra* begins to imply intellectual animation and insight, and the idea conveyed by the word ṛṣi inclines more towards sanctity, which is associated with antiquity and the power to visualize the unseen as a result of divine favour. This latter aspect is emphasized in the legends of Vatsa and Kavaṣa. Medhātithi acknowledges Vatsa, when he is convinced that Agni has favoured him[1]. Kavaṣa is also admitted to their ranks by the seers when they find that he is favoured by Sarasvatī[2]. The power to perceive the imperceptible, which is attributed to the ṛṣis, secures them a place by the side of the gods in finding cures for ritual ills or in discovering new details or rites for the sacrifices.

Many individual seers and groups are designated as ṛṣis in the *Ṛgveda*. The Navagvas[3] and the Virūpas of the Angiras clan[4], the Kuśikas[5], the Priyamedhases[6] and the sons of Vṛṣṭihavya[7] are expressly qualified as ṛṣis. Among the individuals who receive this epithet are Atri[8], Kaśyapa[9], Vasiṣṭha[10] and Viśvāmitra[11] all of whom later figure in the group of the seven sages[12] and are also among the *gotrakāras*. Agastya is the ṛṣi who is said to have looked after both the varṇas[13].

Though there is no conclusive evidence that the son of a ṛṣi could automatically acquire the title of ṛṣi, the possibility

[1] *Pañcaviṃśa Brāhmaṇa*—XIV. 6.6, *abrāhmaṇosi* śudrāputra iti ; vatsa as *ṛṣi*—*RV*—VIII. 8.15

[2] *Aitareya Brāhmaṇa*—II. 19 ; Cf. *KB*—XII. 3

[3] X. 108.8

[4] X. 62.5

[5] III. 53.10

[6] X. 73.11

[7] X. 115.9

[8] I. 117.3

[9] IX. 114.2 ;

[10] VII. 33.13 ; VII. 88.4

[11] III. 53.9

[12] *Bṛhadāraṇyaka Up.*—II. 2.3-4

[13] I. 179.6

that heredity was an important factor cannot be ruled out. The ṛṣis Vyaśva[1] and Vaiyāśva[2] mentioned in the same hymn may have been father and son or may not have belonged to successive generations. Similarly Atri and Śyāvāśva Ātreya both are qualified as ṛṣis[3], but if the account in the *Bṛhad-devatā* is taken to refer to them, it would appear that the claim of Śyāvāśva to the title of ṛṣi was not based on heredity.

Though the insistence on *ārṣeya* or hereditary priests increases in the ritual circle, it is obvious from the legends of Vatsa and Kavaṣa Ailuṣa that the status of a ṛṣi could be attained by persons of doubtful parentage. The importance of this aspect of the ṛṣi is implicit in the later literature which recognizes the dubious origins of most of the notable ṛṣis[4]. The story of Śyāvāśva related in the *Bṛhad-devatā* demonstrates that birth alone did not entitle an individual to become a ṛṣi and that the composition of hymns continued to be recognized as the real criterion for admission to the exalted rank of ṛṣis. It seems that Śyāvāśva wanted to marry the daughter of the king for whom he had once acted as a priest at a sacrifice. The king when approached consulted his wife, who expressed the wish that her daughter should marry no less a personage than a ṛṣi, as she herself belonged to the family of a *rājarṣi*. Śyāvāśva apparently could not claim to be one as he had no hymns to his credit. In order to fulfil the condition laid down by the queen, he composed a hymn, presumably through divine favour, and secured the title of ṛṣi as well as the princess[5].

The word *ārṣeya* meaning the descendant of a ṛṣi, is important in this connection. It occurs once in the later strata of the *Ṛgveda*, but the meaning which it denotes in the later Saṃhitās

---

[1] VIII. 23.16 ; cf. VIII. 9.10

[2] VIII. 23.24

[3] I. 117.3 ; V. 52.13

[4] Cf. *Mahābhārata*, Śanti, 296, 12-18 ; Bhandarkar, D. R.—*Some aspects of Ancient Indian Culture*, p. 58

[5] *Bṛ. Dev.*—V. 50-79

does not appear to be appropriate here[1]. Ārṣeya lays stress on heredity, indicates pride of ancestry and continuity of tradition[2]. It is commonly used in the *Brāhmaṇas* and the Sūtras with reference to the *pravaras*. Recital of the pravara, that is the names of the ṛṣis believed to have been the founders of the families to which the sacrificers belonged, formed an integral part of practically all Śrauta sacrifices. The recital is first alluded to in the *Taittirīya Saṃhitā* and is carried out first by the *hotṛ* priest and then by the *adhvaryu* with slight modifications[3].

Haug understood 'ancestral fire' by the word *ārṣeya*[4] in the clause *ārṣeyaṃ vṛṇīte*, a concise formula used in the *Brāhmaṇas* and the Sūtras for the recital of the *pravaras*[5]. Weber does not agree with this interpretation. He takes it as collective neuter singular and translates it as 'Ahnenreihe'[6].

Karandikar discusses the word *ārṣeya* in order to prove that the Vedic individual was originally free to choose the names of the ṛṣis he preferred for the *pravara* ceremony and also to belong to any gotra he liked[7]. According to him the clause *ārṣeyaṃ vṛṇīte* implies the freedom of an individual to choose an *ārṣeya*. He traces the word to the *Ṛgveda* in order to determine its meaning. He takes the word to mean "a ṛṣi's glory" and translates *abhyārṣeyaṃ Jamadagnivannaḥ* as 'the *ārṣeya* like that of Jamadagni[8]'. It is difficult to ascertain the meaning of *ārṣeya* from this isolated instance. The word later begins to denote the 'descendant of a ṛṣi'. but it is very doubtful if that meaning could be ascribed to it in the *Ṛgveda*. Sāyaṇa explains it as the wealth or *mantra* suitable for the sons of the ṛṣis. 'The sons of

---

1 *Taittirīya Saṃhitā*—I. 4.43 ; VI. 6.1.4 0; *Vājaṣ. Saṃhitā*—VII. 46, cf. *ŚB*—IV. 3.4.19

2 Cf. *Atharva-veda*—XI. 1.26 ; *ŚB*—XII. 4.4.6

3 *TS*—II. 5.9 ; *ŚB*—1.4.2 ;

4 *AB*—VII. 25 ; VIII. 3 ; Haug, M.—*AB* ; II, p. 479

5 *TS*—II. 5.8.7 ; cf. Brough, J.—The *Early Brahmanical system of Gotra and Pravara*, p. 14

6 Weber, A.—*Indische studien*, IX, pp. 321 ff ;

7 Karandikar—Hindu Exogamy, pp. 52 ff.

8 *RV*—IX. 97.51

the ṛṣis' given by Sāyaṇa besides being the later meaning, is also unnecessary here. The same applies to 'Namen eines Ṛṣi' the interpretation of Geldner. Brough refutes the conclusion of Karandikar and takes the word to mean 'connected with a ṛṣi'[1].

The names of ṛṣis, which appear in the *pravara* lists as those of the ancestors of different families, are generally grouped together in the *Ṛgveda*[2] with one exception. The names Aurva, Bhṛgu and Apnavāna mentioned together in the *Ṛgveda*, also occur in the *pravara* lists of the Jamadagni family[3]. According to Brough, the hymn in which these names occur appears to be a prototype of the kindling ceremony described in the *Brāhmaṇas* and the Sūtras.

Though the pravara type use of the names of ṛṣis can thus be traced to the *Ṛgveda*, it is doubtful if the word *ārṣeya* which later becomes almost synonymous with *pravara* and its implication of ancient heritage, had acquired this meaning in the *Ṛgveda*.

As suggested by Brough it is quite possible that insistence on an ārṣeya priest was meant to ensure the priest's connection with one of the authentic Brāhmaṇ clans. But in view of the fact that the Vedic society and the ritual were undergoing modifications and also that the ṛṣis were not necessarily confined to the authentic clans, it is quite probable that the Vedic orthodoxy stressed the importance of *ārṣeya* to ensure that the person selected was properly trained and had imbibed the sacrificial traditions.

The importance of three successive generations of ṛṣis began to be stressed, when the injunction for priests who could claim a ṛṣi ancestor was considered insufficient[4]. The importance of citing ṛṣi ancestors seems to have increased with the growing rigidity of the social divisions and the rarity of new ṛṣis. The recital of *pravaras* thus appears to have become part

---

1 Brough—*EBSG*, p. 13.

2 I. 31.17 ; I. 45.3 ; VII. 96.3, etc ; *AV*—II. 32.3

3 VIII. 91/102.4

4 *Mait. Saṃhitā*—IV. 13.9 ; *VS*—XXX. 61, etc.

of the Śrauta ritual to prove the continuity of the ritual in its ancient form.

Earlier hymns of the *Ṛgveda* show that a ṛṣi was considered an inspired singer or composer on a higher plane than a *vipra.* It appears that birth or composition of hymns could not enable a person to become a ṛṣi, and that it was considered necessary to gain the favour of the gods or to secure the gifts of speech and knowledge from them.

The ṛṣis are associated with *tapas*[1], but are not identified with the ascetic tradition like the *yatis* or the *munis.* The ṛṣis who renounced the world or claimed noble heredity could not have been rare, but these factors were not regarded as their special characteristics[2]. The Ṛgvedic ṛṣis are also associated with priestly activities[3], but the later literature recalls them more for their vision and sagacity than their priestly aspect. The word ṛṣi in the *Ṛgveda* is used more as an epithet than as a synonym of *ṛtvij*. This supports the suggestion that the eminence of a ṛṣi was not so much based on priestly activity as on the qualities which made them important for the Vedic culture. They are referred to in the Smṛtis as *prajāpatis* and not as priests—an indication that they were not solely associated with priestly function. Their importance for ritual later becomes symbolical, as they are believed to have conducted ideal and flawless sacrifices in the remote past.

It thus becomes evident that the word ṛṣi expressed the idea of a sage rather than that of a functionary. Thus it appears that ṛṣi could denote, from the beginning, an ideal person. The first indication that the concept is being idealized, occurs in the Puruṣa Sūkta, where the ṛṣis are mentioned with the gods and the sādhyas as the first sacrificers, who are said to have helped the creation of the world from the limbs of the primeval man[4].

---

[1] X. 109.4 ; X. 154.5

[2] Cf. *Taitt. Āraṇyaka*—II. 9

[3] IX. 62.17 ; IX. 86.4, etc.

[4] X. 90.7

The tendency to create an ideal or archetype is quite common. Such ideal personalities help to sustain society in its moments of crisis by acting as reminders of those rare occasions, when the sectional and supreme interests of the groups are integrated. The individuals who rise above personal and sectional interests and succeed in showing that the supreme or the unattainable aim can be achieved, are treated as ideals by later generations. The description of the ṛṣis in the later literature shows that they are remembered as such. The value of social actions is also judged by succeeding generations in relation to these idealized figures, who thus link the past with the present and the future. The type of man that a society holds as an ideal also provides the key to the social system, for the concept of an ideal reflects the actual state of society and its aspirations.

The concept of the ideal conveyed by the word ṛṣi, embodying deepseated aspirations of the Vedic Aryans, thus appears to have performed a normative function. The description, in the *Ṛgveda*, of the group of seven sages known as the *saptarṣis* supports the suggestion that they symbolized ideal personages[1]. Though the names of the seven sages are not mentioned in the *Ṛgveda*, the list that appears in the Śatapatha Brāhmaṇa includes the names of some of the eminent ṛṣis connected with the Vedic ritual and culture. The growing importance of the concept conveyed by the word ṛṣi is also indicated by the fact that the later group of the seven ṛṣis completely replaced the earlier one of the seven *vipras*.

———

[1] IV. 42.8, etc.

THE CITY PLANNING—A STUDY IN MILITARY GEOGRAPHY

DR. M. N. NIGAM

Deptt. of Geography

The city is the point of maximum concentration for the power and culture of a community. It is the focus of different beams of life and therefore it has gained social effectiveness and significance. In it, the natural environment is humanised to the maximum possible extent. It also maintains the naturalisation of the human heritage. The remarkable increase in the number and size of cities in modern times is due to great changes in manufacturing, transportation, and mode of commerce and trade. Cities today form the 'nodes' that help in making places connected with each other. It is the point of maximum concentration for the power and culture of a community, and if any how they are destroyed, the whole activity shall be paralysed.

It is high time therefore to have well planned cities as far as possible and for this the study of the detailed geographical conditions is necessary. While planning a city we must consider almost all the aspects e.g. internal ease of movement, economic provision of services, desirable social and urban life, and defence at the time of war etc. In the present paper an attempt has been made to consider city-planning from the Military Geography point of view.

The tendency of growing urbanization has caused in general old urban centres to expand horizontally exhibiting a significant increase in their population. Towns have also been growing round some industrial or other single functional nuclus. In this way several new cities have born and old ones have become metropolitan centres during the last one and a half decade. As for example the Govt. of Uttar Pradesh with a view to developing metropolitan centres raised the status of five 'Muni-

cipal Towns' as 'Corporations' now called as 'KAVAL' towns.[1] Their area has also been increased horizontally in order to make them big in size. Before commenting on this fact it would be worth while to consider the question of big cities which present the following problems: In this connection it may be mentioned that both space and time are equally scarce commodities in our cities, one cannot profitably be traded for the other.

1. Overcrowding and congestion–this creates unsound living conditions. Besides not only rural urban migration but urban to urban migration has also created a puzzle in big cities.

2. Development of densely peopled areas—As such the facilities of sun light, fresh air and water, that are free gifts of nature, are denied to an average individual.

3. Paucity of open spaces that serve as the lung of the city.

4. Paucity of play grounds etc.

5. Congestion on roads and jamming of traffic.

6. Insufficient supply of public utility services.

7. Compulsory wastage of time, money and energy of the persons living in these centres due fo vastness.

8. Increase in crimes specially suicides and juvenile delinquency.

9. The Social costs of a growing metropolitan area have a tendency to multiply in the shape of polulion of river water with industrial wastes, slums, smoke, soot etc.

10. Target attractiveness at the time of war, which may prove fatal for the country. It is just like keeping all the eggs in same basket.

In spite of best effrots, war can break out any time and then big centres of population will naturally be the main targets, including even those which do not contain key war industries. It is a moot point as to whether population bombing will play

[1] 'KAVAL' Towns include Kanpur, Agra, Varanasi, Allahabad and Lucknow.

a major role in deciding a global war, but it can cetrainly reduce the ability to retaliate promptly and hence it may be considered worth while by an aggressor. Compactness is a poor exchange for immunity from attack. The destruction of Hiroshima is still fresh to our memory. Hence if the cities are not to be made attractive to bombing, the choice is in the hands of the city-planners who will do well to weigh the facts before recommending new construction. If the cities are small, each would be a rather poor investment for the atomic bombing.

These problems can be avoided by proper planning. It is suggested that big cities should not be encouraged to grow, and unifunctional satellite towns need the stimulated. These smaller cities with less population density will be more desirable and safer places to live.

In this connection it must be mentioned that large and important cities should not be concentrated in one particular part of the country. They should be widely dispersed, because the more time an attacking bomber spends inside the borders before reaching its target, the better are chances for detection and interception.

In view of the above facts, the creation of metropolitan or major-politan areas is not desirable. As mentioned above it is not only against the socialistic pattern of society, to which India is committed, but also from the defence strategy point of view.

The above discussion involves the basic problem of what should be the optimum size for large urban centres. It would therefore be worth while to consider the size factor of the city. When one considers the word' size' one has to think in terms of both the horizontal area and vertical extent. Size also means total population, a population which can be concentrated by vertical accumulation, or dispersed thinly over a broad horizontal area ; which in its turn will depend on the physical nature of the site and the general cultural level of its people i.e. their needs and desires for a certain social standard and

the technical skills with which they have to translate these feelings into actuality. Secondly in each major geographic region there seems to be a hierarchy of interrelated urban centres. The inter-relationship changes with the change in the cultural level of the people. In an open economy based on competition, not only can fanctions change in a long period of time when the entire culture changes, but they can also change in a short period of time within the same cultural period. Thus it is evident that the optimum size for any urban centre can be determined only after a comprehensive understanding has been obtained of the character and interrelationships of the region within which it is located.

In the structure of a small town society where the people are still struggling for further economic strength and civic consolidation the objectives of the plan should surely be considerably widened to invite more initiative from the people of the community to express themselves freely and not to constrain them. This is assisted by the following—

A. By the systematic analysis of the interdependence of the rural-urban environment,

B. By the agreement upon a policy of:

(i) Encouraging the increase of employment opportunity based on indigenous resources.

(ii) Providing a transport and communication system based on the regional-urban development fore-cast. This can lay the foundations for the steady, unimpeded, and less administratively confused process of urban growth.

(iii) Providing all the economic, physical and social conditions suitable for the freedom of initiative and endeavour of the inhabitants.

C. By reviewing the way of proceeding in the above directions by having more community participations in the search for the true knowledge of their immediate environment, by educating the community in the

elements of civics and giving the enlightened public an opportunity to evolve and express the pattern and character of the town they themselves select and would wish to emulate. It is porbable that there is a certain size of city which operates with the greatest efficiency. In smaller cities some of the facilities of the larger units cannot be operated with profit. The exact size of the most efficient city is difficult to determine, but the limit of 100,000 persons on an area of 24 square kilometres will be better. This is just about the marginal size which if properly planned can be a relatively self-sufficient entity. It may be called as 'Parent' city.

For India where population density is high on an average five houses having two storeies per acre would be suitable; and each storey will accomodate a family of five members. In this way an acre of land will acccommodate 50 persons. Therefore accommodating 100,000 persons, approximately 2,000 acres of land will be needed. Besides this, 15 percent of the living space is required for roads and streets, 35 percent for parks and playgrounds, 60 percent for administrative and public buildings, 49 percent for business areas and 50 percent for the other remaining functions. In this way total area required for a parent city will be:

Residential	2000	acres
Roads and streets	300	,,
Parks and play grounds	700	,,
Administrative Area	1200	,,
Business area	800	,,
Others	1000	,,
Total Area Required	6000	acres

or approx. 24 sq. kilometres.

In this way the size of the 'parent city' will be near about 24 square kilometres at the maximum, which seems to be quite

suitable. It is suggested that the parent city may include the following basic functions:

1. Wholesale markets and commercial offices
2. Administrative function for the region it serves
3. Big Hospitals serving the whole region
4. Recreational centres of high order including Radio-Station etc.
5. University and higher or technical education & etc.

The non-basic functions include:

1. Retail markets and shopping parade for the local people.
2. Local self Govt. offices.
3. Dispensaries and health services for the city dwellers.
4. Primary and seconday schools.
5. Services for the local people e.g. washing, barber, tobacco and betel-shops, tea stalls and hotels etc.

Moreover a type of decentralisation programme may be attempted which is not only essential from the point of view of defence but would also improve the living conditions in cities. With proper decentralisation the antisocial manifestations will decrease. Decentralisation would not produce utopia but it would certainly result in a better rather than a worse environment.

Dispersion is insurance against a disaster. In recommending dispersion immediate evacuation of our large cities with a subsequent rebuilding in less concentrated form is not advised. Such a drastic removal would have economic and psychological consequences comparable to those of a mass underground movement. Individuals must be made to see the desirability of such moves and must choose new locations with guidance but without pressure. It does not appear feasible

to work out a detailed masterplan for the whole state or country. Local geograhy and the particular requirements must govern the actual details. Broad principles applicable to all communities can be laid down but each city will have problems peculiar unto itself.

In any dispersion plan adequate transportation is of paramount importance. Rail and highway facilities must be carefully planned in advance so that adequate services are available.

An adequate programme need not go to the extreme of uniformly spreading all people and industry over all of the acceptable land of the nation. This would certainly reduce the attractiveness well below that needed to discourage the use of the bomb, but would introduce insoluable problems of transportation and would use land which is badly needed for agriculture and forests. Rather, the plan should contemplate the spreading out of industry and residences into closely knit but not highly concentrated units. These units might consist of a series of small satellite towns around parent cities may be at a distance of 40 to 60 kilometres so that the chances of their joining together may be very remote.

The size of the satellite will decidedly be smaller than the parent city. It will depend upon the functions performed by the different satellite towns. But it should have a population somewhere between 20,000 and 30,000, and an area of about 5 to 7 square kilometres. The satellite towns may have one or a set of the following as their basic functions—

1. Industries
2. Regional or Central offices or both
3. Transport Companies
4. Railway Colony and Offices
5. Higher Education
6. Banks etc.
7. Recreational Centres of lower order
8. Retail Markets.

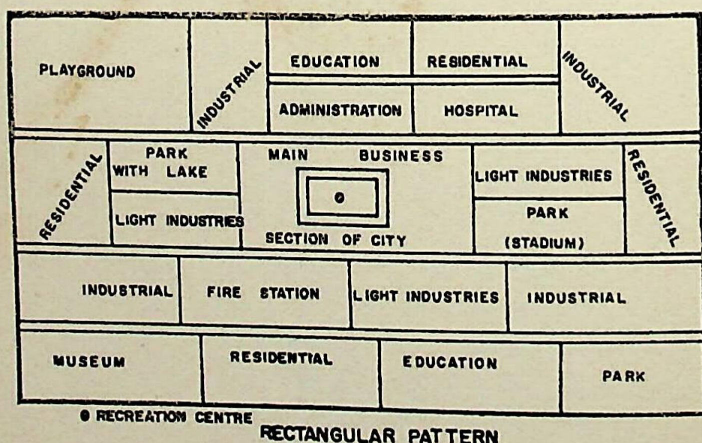
Besides the above mentioned functions every satellite town will have the following non-basic functions also:

1. Primary and Secondary education
2. Recreational Centres such as Cinemas, Clubs, and Hotels
3. Local Bodies
4. Hospitals
5. Parks and play grounds
6. Retail shopping parade etc.

These towns may also arrange periodical exhibitions, fairs, and special shows of public interest and importance.

Thus according to the local conditions, the towns may be planned on anyone of the following pattern:

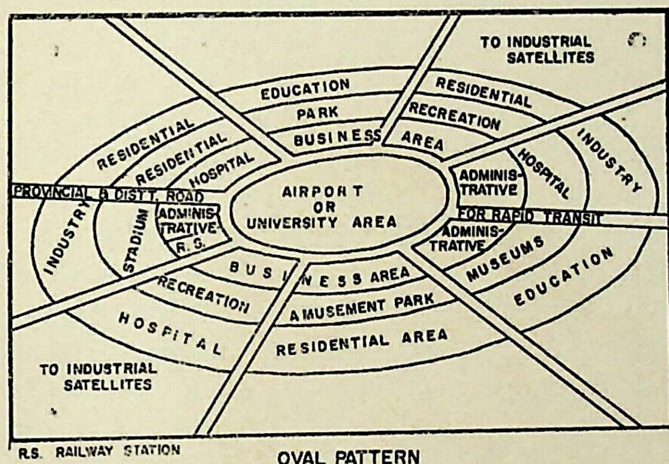
1. *Rectangular-Pattern*—in which the CBD forms the geometric Central part surrounded by residential, industrial and recreational areas. Air field may be kept quite separate and away from the densely peopled areas.



RECTANGULAR PATTERN

2. *Wheel-Pattern*—with the administrative offices as its pivot and other functions on the circumference.

3. *Oval pattern*—having an open area or airport at the centre surrounded by other city functions, In all the above three types the satellites will develop on the periphery.



OVAL PATTERN

4. *Rod-Pattern*—having a city along a highway and satellites on the other parallel roads if topography permits.

Conclusion

In conclusion it may be mentioned that cities should be planned on regional basis, i.e. each geographical region should have one 'parent' city spread on area of about 24 square kilometers and having a population of about 100,000. Around this city unifunctional or bi-functional satellite towns should be developed being at least at a distance of 40 kilometres from the 'Parent city'.

THE STATUS OF FINE ARTS TEACHERS IN OUR EDUCATIONAL INSTITUTIONS

M. V. KRISHANAN

College of Music and Fine Arts

India has an hoary art tradition in all its branches. In ancient India there was no distinct line of demarcation between various arts and crafts. All had the same amount of patronage. Arts and crafts were not an isolated phenomena, but were a necessary thing in life. Temples were the repositories of almost all forms of art. Each art played an important part in the religion of the people in particular and also in their life in general.

Even during the time of the Mughal rulers, when often our temples were desecrated and sculptures destroyed or damaged the craftsmen were supported and patronized by the wealthy. They had only to adapt themselves to the situation, and duly received encouragement.

With the arrival of the British, Indian art was reoriented towards the west. Besides, the western outlook naturally began influencing the Indian artist and his aims. This had both good and bad effects. Temporarily the effect was that the Indian artists lost their traditional moorings and were dominated in their art outlook by that of the West. This trend towards excessive absorption of western influence was, according to some critics, noticeable in the Bombay school of Arts, whereas the Culcutta School of Arts was belived to have struck to traditional heritage, only absorbing, as their patrons claimed such influences from the west as harmonized with their own traditional art heritage without spoiling its national character. Whatever that may be, the western influence had certainly penetrated all the different Art Schools established during the British period. No School could claim to be entirely traditionalist in its art outlook and teaching. And no school alone could claim inspiration from Ajanta or Bagh. It is possible

to detect which particular is at work and dominant in the paintings of the various schools of Art, and accordingly judge them as either traditional or modern.

Evidently it is a matter of certain technique, to a certain extent by certain artist, painters for instance which leads to this difference. What is this technique which differentiates one picture from another as modern or traditional, realistic or idealistic, but the use of perspective, light and shade which marks all the difference. The one shows value, depth, light shade and shadow, the other is flat. The best illustration of the use of western technique in painting and sculpture is to be found in the creations of the day like Raja Ravi Varma of Kerala, Mr. Dhurandhar, Haldankar, and Mahtri of Bombay and sculptors like Hiranmoya Roy Choudhury, Mr. Karmarker and Mr. Deviprasad Roy Choudhury.

Now the question before the art schools in the country is what kind of technique and methods in training to art students in Fine Arts Institutions of the country to be given. Whether the above mentioned techniques usually called the realistic, traditional or the new techniques evolved in the west like those of Impressionism, post Impressionism, Expressionism, Surrealism etc. are to be followed. Now if we go after every new tread in the west in the art world there will be no end, let alone the confusion worst confounded, it would create. Art is certainly universal but it has a geography and it evolves according to its region and even in that it might achieve universality. Why should India tie itself to the apron strings of the art tendencies of the west ? We are more concerned with such a training in all art schools as will enable the artist after he has left the institution to evolve himself or orient himself to any trend prevalent anywhere according to his talent or genious. That is the main crux of the problem.

Unfortunately in the Govt. Art Schools or Colleges of our country no uniformity or basic principles common to all, are followed in couching a novice in Fine Arts. As a result the art Schools are antagonistic towards the products of schools

other than their own. Even some of them do not recognise the diploma or the degree of an art student from other schools seeking admission to their portals. This creates a problem for the students and also the teachers in course of time.

Now, we shall have to consider about the training imparted to our young men in the field of Fine Arts in this changing atmosphere of New India. The modern movements in the west have affected the teaching of art training in the schools of Arts in Madras, Calcutta, Delhi, Baroda, and Lucknow. Sir J. J. School of Arts, Bombay has happily synthesised the new trends along with the Academic disciplines. Thus, an evolution is in progress in the art world of India. The modern movement and its techniques is gaining some foothold even in the shaping of Art Education in India. A member for art in the Education Commission appointed recently by our Government is very much oriented towards ultra modernist art prevalent in the west. In his view everything that prevailed up till now in our country, namely, the teaching and technique of art are outdated and out moded and hence in his view we must start absorbing the new tendencies and start teaching on those lines. In my humble view nothing will so much damage our art Schools than the adoption of this view. Therefore, this is a subject which should be very thoroughly discussed from all view points by different artists of note, holding different views of training and technique in art, before a final decision is taken.

Till recently Fine Arts had been kept away from the portals of almost all the Indian Universities. Even now, only a handful of them have thought about giving a place for teaching of Fine arts in their curriculum. In this too we find diverse forms of training. There is no proper standard maintained as in the case of other faculties taught in the universities. Some of them have art as an optional subject in B.A. just as history or economics. Students take their first degree in B.A. with Fine Arts as one of the subjects. With this subject of Fine Arts they proceed for their master, degrees. There are hobby classes in Fine Arts awarding diplomas in certain universities. Besides

there are many mushroom private agencies and institutions teaching fine arts and awarding diplomas or certificates. A few Universities and many Govertment art schools and colleges have full fledged professional courses awarding degree and diploma . This diverse type of training has created problems regarding the employment of artists and art teachers. When selecting teachers in fine Arts it will be manifestly unjust to equate those who have undergone a professional training in fine arts with people who have studied it as an optional subject in B.A. and after that studied it in M.A. or with those who possess a diploma from a hobby class or a private institution. It is therefore an urgent necessity on the part of the Government and universities to evolve a well defined formula with regards the qualifications for a teaching post in fine arts. Only people possing professional qualification from a recognised institution should be selected for teaching of fine arts.

Another fact to which I wish to draw the attention of the universities is that the creative work of an artist or art teacher should receive the same patronage and encouragement as is given to learned literary and scientific reserch work. Just as a Ph.D. degree is awarded to a genuine research work to a post graduate candidate a similar degree should be instituted in professional fine arts colleges for any research or often a really creative work of Art.

MEETING RAJA RAO

Dr. A. P. O'BRIEN
Professor of English

It was a winter afternoon when the sun was emptying its last warmth before sundown, that I was seated in a low cane chair reading a book. At this time the slight figure of a gentleman came out of a taxi which pulled up at the gate. His appearance was unusual: he was attired in a black suit, his face was debonair with a well-shaped nose, thin lips, and lighted eyes. His hair was long and trimmed at the neck, the hair-do of artists. He walked up elegantly and asked for me and introduced himself—'I'm Raja Rao'. I was taken aback and sprung to my feet: '*The Serpent and the Rope*'?—I asked. He nodded and said 'Yes', pleased at the recognition and the title of the novel in English which wafted him to fame. We then sat down, he in the vacant chair next to mine. I peered into his face fascinated that I had seen Raja Rao in person at Banaras. I asked him how he got here. He replied, 'I have just come from the South of France where I live. I had just to pack up and get back to India to write my new book on the Ganga'.

'It must be delightful to be a writer', I said. 'No, no', he rejoined, 'it is just the opposite, painful and exhaustive. When you write in the throes of creation, you spend yourself out in a book and when that is completed, you have said all you had to say and there is nothing more to say'. He paused reminiscently, 'You have emptied yourself out, exhausted—and you are finished.' There was another pause. I had to continue, perhaps, a little disjointedly, 'I had read your *Kanthapura* years ago.' 'Yes', he shook his head, 'that was long, long ago. I then did not write for almost a decade; I was engrossed in metaphysics. Besides, you cannot write a book with frequency'. I replied, 'That's just like E. M. Forster, who wrote little after *A Passage to India*.' 'That's right', he said and continued,

'I met Forster in London. I told him that I had not written a book for ten years because of my study of metaphysics. Forster retorted "I have stopped writing too, you for metaphysics, I for nothing".

The conversation wove into this rich texture of an author speaking out. In a flash, I resolved, I had to have him with us for a considerable time in a closer golden circle. So I asked him, 'Why don't you address our English Seminar some day at the Banaras Hindu University ?' He smiled and readily agreed and asked 'What should be the subject ?' I reflected for a moment and answered 'Criticism and Creation'. He raised a finger to his cheek and thought, 'Make it', he said, 'The Critic in the Creator'. I agreed. But his expressive eyes revealed he was not quite satisfied. He bent his finger and rubbed it gently across his lips. 'Let it be', he said, 'The Critic and the Creator' not 'The Critic in the Creator'. The change of a preposition for a conjunction made a world of difference to him and what he had to say. And so a date was made. He rose to go and as I walked with him to the car I said, 'Writing about the Ganga, near the Ganga, on the bank of it in a sheltered cottage is ideal'. 'True', he said, 'that's exactly what I've got, a secluded lodge at Rajghat, right where the Ganga flowed and rippled in all its physical and mystical being'.

It was a select gathering that attended the Seminar meeting to hear a famous Indian novelist in English speak. Our platform has been mostly held by critics of literature and language; but here was a creator. Indian Universities had yet to pattern themselves, in a measure, like foreign Universities where creative writers like poets hold chairs as did the great Robert Frost or W. H. Auden or as Robert Graves does to-day at Oxford University.

I introduced Raja Rao to the audience as a 'lord of the language' and quoted a few lines from *The Serpent and the Rope* as an example of his inimitable style : 'Sorrow is our river, sorrow our earth, but the green of our trees and the white of our mountains is the affirmation that Truth is possible'. This was an

example of his 'utterly beautiful' style as the *Times of London* once reported. I could see as I turned to his face that he was visibly surprised at the quotation. I spoke on Indian writing in English and recalled some of our great novelists like R. K. Narayan, Mulk Raj Anand, Bhabani Bhattacharya, Aubrey Menen, Kushwant Singh and Raja Rao.

Raja Rao then gave his address off the cuff. His voice was soft but his sentences were striking. 'The work of a creator is secretive', he said, 'the secret Ganga flows on oneself, worship it and never care to know its source'. He did not want to speak of himself as a creator but in all that he said he gave us a personal record of attitudes and values. He spoke of his fundamental belief that all creation is entirely impersonal. In difficult moments suddenly a word comes from somewhere as if by magic, not something you thought of. 'Yes', he said, 'that's the final word—yes the final word. No writer comes by deliberation to that final word. It is only a fool who believes that one can coax himself into that word'. He checked his impatience. 'A word—the final word—' he went on enthrallingly, 'gives the vibration of the object. The object is strongly felt and it is the word that brings it out. So creation is the pure vibration of a human being in concentration'. He paused, for he was pouring out his soul: 'Yes, this is the delight', he said, 'of words. They group themselves in discovery'. He reverted, with the recurrence of an artist, 'but it is the impersonal which constructs the series of statements'.

He then switched on to the condition of the writer most conducive to good writing which is meaningful. 'The writer should be solitary. He must be alone to get the right word. Writing is an extremely severe discipline or a *Sadhana*. The writer gives everything of himself. He begins with fear but ends in exhaustion. There is just nothing more for him to give when he has finished the book'.

He next spoke of the critic. He quoted Paul Valery who said that the artist has the critic within him. He did not quite

agree with that. 'The critic', he averred, 'is another person, one who can enjoy what the artist has so spontaneously expressed. The critic's business is to see the awkwardness in any statement, and the beauty in any statement. The critic must also do *Sadhana* as the writer in order to differentiate the impersonal from the personal. He must perceive the negative capability of the writer'. He continued in rumination, 'when Katherine Mansfield died, her husband Middleton Murry had a deep spiritual experience. He lost as he said his "Egohood" and merged into the Absolute. Without this entrance into the Absolute no greatness can come. It is necessary for the critic to have such experiences of the impersonal and the Absolute. The writer has a passion for the impersonal and the critic must understand him at that level. Criticism has a place where the personal idiom is involved in the total imaginative construction of the novel.'

Raja Rao's sense of words is a felt experience like that of Jean Paul Sartre who wrote in his autobiography: 'Syllables and letters, span out their dipthongs and made their double consonants hum; fluting, nasal, broken up with sighs and pauses, rich in unknown words'. All great artists think of words at some time or other. T. S. Eliot did so in the *Four Quartets*. In *Burnt Norton* he wrote of words *in excelsis* and their finitude:

'Words move, music moves
Only in time; but that which is only living
Can only die. Words, after speech, reach
Into the silence'.

Raja Rao shuts out personal experience and rightly so. 'The great writer sinks', as he said, 'into the depths of impersonality. This comes not by contrivance but insight and perception and vibrant experience at the time of writing. Novels give us visionary realities: but they come through the particulars of actual people'. In this climax, the Seminar meeting ended. After it he was still full of revelation: 'From the French language I learnt discipline and grace. From the English language

I learnt not to take it at its face value but to mould it, to transmute it into the sublimity and music of the Sanskrit language'. This is the new language in English which Raja Rao is trying to make. Has he succeeded ? He has to a great extent. Here is his English flowing in the rhythm of Sanskrit : 'The Himalaya is like Lord Shiva ! He was like space made articulate, not before you, but behind you, behind what is behind that which is behind one'.

INFORMATION RETRIEVAL IN SOCIAL SCIENCES RESEARCH

P. N. KAULA

Abstract

[*Evaluates the importance of documentation work to a research worker in Social Sciences, stressing the understanding of relevance and value of the material for dissemination. Notes some of the attempts done in this direction by UNESCO and Indian agencies. Enumerates the reasons for the paucity of documentation work in Social Sciences. Describes the techniques used in documentation work explaining indexing and the superior adaptability of analytico-synthetic classification. Suggests measures for organising documantation service in Social Sciences in India.*]

0. Introduction

It is a well known fact that the present day research in any discipline is not possible unless library facilities are provided. The vast literature appearing in the field of social sciences has to be scanned through, studied, analysed and digested. The library is expected to bring forth the *relevant* literarure for the use of a social scientist and the social scientist should make use of the literature that is of *value* to his search on hand. A proper understanding of the concepts of *relevance* and *value* is necessary for the dissemination of research material in social sciences.

1. Present Postiion

It is an admitted fact that most of the scientific research in natural sciences is carried out in laboratories by planned action, and literature-search is a secondary source. But in the field of social sciences, study of literature is of primary source and litderature-searching is a *research* activity especially when the boundary between documentation and research is by no means so well defined as in the natural sciences. The Library Association Conference in 1960 discussed this issued in detail.

Since 1948, several attempts have however been made to initiate documentation and abstracting work in social sciences. Unesco also helped in this task considerably by taking the opinion of experts consisting of social scientists and documentalists from 1948 onwards which has resulted in the publication of the *International social science journal*, *Documentation in social sciences*, and a number of bibliographies on several areas of social sciences. The Unesco's field office in India has been bringing out *South Asia social science bibliography* since 1952 and *Research information bulletin* since 1956. A number of libraries in the country have been documenting social science literature and issuing documentation lists. Bibliographies on specific subjects in this sector of the universe of knowledge have been brought out. The work of libraries of the Ministry of Labour and Employment, Government of India, New Delhi, the Indian Council of World Affairs, and the Indian Institute of Public Administration deserve special mention. For the first time a Library Seminar on Research in Social Sciences was held in January 1959.[1] This helped in understanding the contribution of library to social science research. It brought to surface a number of problems in indexing and documentation of social science literature. I had also made a specific analysis of this problem in this seminar.[2] Further experience in documentation in an area of social science has been recorded in 1963.[3] D J Foskett has recently made an admirable analysis of this subject in perspective.[4]

2. *Documentation Facilities*

There are a number of documentation facilities in natural sciences but not to that extent in the social sciences. The reasons are as under :

1. The demand for documentation is less in the social sciences than in the natural sciences ;
2. Sufficient financial support has been not forthcoming ;
3. Individual rather than cooperative or team-research has been the general rule ;

4. Publications retain value for longer periods than in the natural sciences. Therefore, there is less emphasis on nascent thought ;
5. The field of study has not been defined properly. Experts do not agree on the scope of the subject. There are disputed areas such as Social Psychology, Social Philosophy and Social Biology. Some even exclude Law.
6. There is absence of any standard vocubulary on the subject. There are a large number of synonymous terms ;
7. Absence of research methodology and proper research facilities ; and
8. Absence of a scheme of depth classification for documentation.[5]

Besides the undefined boundary of social sciences, vague and imprecise terminology, loose and emotional content of subject matter, absence of developed research metholdology, disagreement of experts on fundamentals, polarisation of thought takes shape in different ways in particular periods. To harness such an amorphous, elusive, and turbulent subject-field for information-retrieval is both difficult and vague. This becomes all the more greater when adequate financial support, proper research incentives, and competent trained personnel are lacking. Classification, indexing and abstracting system should, therefore, be capable of serving the needs of researchers belonging to any school of thought with reticence and objectivity—expeditiously and effectively. To meet this situation, classification and indexing should have sufficient flexibility and verstility, based on sound postulates and principles. Such a system should be analytico-synthetic and at the same time capable of change and revision in consonance with the basic changes and developments in the literature.

3. *Indexing*

There is no need to emphasise the advantages of a classified index over the ordinary alphabetical or alphabetico-classed

index. Foskett is of the opinion that "as the subjects in specialist literature grow more complex, the incentive to produce classified indexes also grows. This has become noticeably true in social sciences, where the great accumulation of basic data absolutely necessitates some system for arranging them and where the inter penetration of disciplines make it vital that the researcher in one field should have access to the others made as simple and effective as possible.[6]

4. *Depth Classification*

There is, similarly, need to develop a "do all" classification scheme which can be based on analytico-synthetic pattern. The only general scheme of this kind is the *Colon Classification.* Depth classification schedules have been designed in this country in the following areas of social sciences. :

1. History ;
2. Labour ;
3. Wages ;
4. Management ; and
5. Social work.

A new design-methodology has been evolved at the Documentation Rrsearch and Training Centre, Bangalore. This has helped in preparing 53 depth schedules of the Colon Classification covering about 94 subjects.

Barbara Kyle has brought out a specialist schedule on social sciences. The Classification Research Group, London has been able to design 22 Specialist Classification schedules based on the faceted pattern evolved in India. Investigations are being made to establish in the field of social sciences schedules of :

1. Value Common Isolates ;
2. Common Energy Isolates ; and
3. Common Personality Isolates.

necessary for depth classification. This work is being done in India.

5. *Other Techniques*

Dissemination of research literature calls for other library techniques.These techniques have also been forged and experi-

mented in India in individual libraries and on a large scale in the Indian National Scientific Documentation Centre. These experiences have been recorded in a number of papers.[7]

6. Suggestions

In organising documentation service in the social sciences on a systematic basis in the country, following points should be considered in developing an effective information retrieval :

1. Creation of an advisory body on social sciences on the lines of the Council of Scientific and Industrial Research ;
2. Coordination of the existing documentation work in various areas of social sciences ;
3. Establishment of National Documentation Centre in the field of social sciences on the lines of Insdoc ;
4. Publication of the *Indian social science abstracts* ;
5. Compilation of a Union Catalogue of learned periodicals in social sciences ;
6. Research in the metholdology of the documentation techniques ; and
7. Financial aid to the schools of Library Science engaged in the study of research methodlogy and advanced techniques of documentation.

References

1. RANGANATHAN S. R. and GIRJA KUMAR, *Ed.* : *Social science research and libraries.* 1960.
2. KAULA P. N. : Documentation and the social sciences. (In *Social science research and libraries* ed by S R Ranganathan and Gijra Kumar. 1960. p. 114-123).
3. KAULA P N : Documentation in social sciences—A case study. (*In Documentation and its facets* ed by S. R. Ranganathan. 1963. p. 259-258).
4. FOSKETT D. J. : *Classification and indexing in the social sciences.* 1963.
5. KAULA P N : Documentation and the social sciences (In *Sociql sciences research and libraries* ed by S. R. Ranganathan and Girja Kumar. 1960. p. 118).
6. FOSKETT D J : *Classifification and indexing in the social sciences.* 1963. p. 48.
7. RANGANATHAN S. R. : *Dorumentation and its facets.* 1963.

SOCIAL ASPECTS OF PERSONNEL MANAGEMENT

Dr. D. P. N. SINGH

Deptt. of Commerse

Social psychologists regard industrial organisation as a social organisation. Not only is the work in such an organisation a social activity, but the social world of the adult centres primarily around it. Beyond a certain minimum level, the need for recognition, security and sense of belonging become the more important determinants of worker's morale and productivity than the physical conditions under which he works.

A worker's complaint is not necessarily an objective recital of facts, it is commonly a symptom, manifesting disturbance of an individual's status. His attitude and effectiveness are conditioned by social demands from both inside and outside the work plant. Again informal groups within the work plant exercise strong social control over the work, habits and attitudes of the individual worker.

In a dynamic society, the social organisation of a work plant and industry is subject to continuous pressure for disruption. If group collaboration is achieved it does not occur by accident but must be carefully planned for and developed the work relations within a work plant may reach a cohesion which will resist such disrupting effects.[1]

An industrial organisation, says Barnard, "is a system of co-operative human activities, the functions of which are (1) the creation, (2) the transformation and (3) the exchange of utilities. It is able to accomplish these functions by creating a co-operative system of which the organisation is both a nucleus

---

[1] Elton Mayo and his associates presented the theory of 'Social Organisation' in the 'Social Psychology of Industry', the conclusion of which are given by Professors Miller & Form in their book "Industrial Sociology".

and a subsidiary system and which has also as components physical system, personal systems (individuals and collection of individuals) and social systems (other organisations)."[1]

Such a system is not the product of a day's endeavour but has to be developed gradually through conscious effort towards bringing about an awareness in the individuals and the group of the task and technique of the group. leading finally to the full integration of the individual and the group not only with the organisation but also within the entire social framework. It is the product of various forms of actions and interactions such as the inter-action between individuals within a co-operative system, the inter-action between the individual and the group, the inter-action between the group and other groups and systems, individual motives and co-operative efficiency and social purpose and the effectiveness of co-operation.

The increasing importance of group behaviour has superseded the numerous psychological concepts and theories regarding man's behaviour in the organisation. For instance, it is now, recognised that the emphasis of psychologists on the study of 'industrial fatigue' of the influence of temperature, light, noise and humidity on industrial productivity, etc., are but of limited significance so far as the working of the individual or the groups is concerned and, therefore, to study human behaviour a new methodology known as 'Group Dynamics' is being evolved and developed.

It has been observed that almost all the major functions of the management are closely linked with the individual as well as the collective behaviour of the 'men' working in the organisation. The questions, say of leadership, decision making, communications, etc. are directly related to the group activity. The ways of thinking and working is defined and nurtured by the decisions and the actions of the leaders and business executives. It is some of these aspects which we seek to analyse in this paper.

1. Chester I. Barnard—The Functions of the Executive, p. 240.

(*1*) *Leadership :*

We may deduce the characteristics of a leader from the following two quotations from Chinese scriptures:

I. The best soldier is not soldierly,
The best fighter is not ferocious,
The best conqueror does not take part in war,
The best employer of men keeps himself below them.

This is called the virtue of not contending. This is called the ability of using men ; and

II. The great rulers—the people do not notice their existence.
The lesser ones—they attach to and praise them.
The still lesser ones—they fear them.
The still lesser ones—they despise them.

It would appear from the above that a leader is an important man in any organisation. He is uncontentious and knows how to use those below him most efficiently and effectively, is full of vigour and initiative but is subtle and effective in his ways and not aggressive or offensive, has the capacity to win attachment and praise of the followers without creating a fear or despise. The role of a leader is adjudged by his ideas, for they affect the behaviour and working of the group. He must continually gather ideas through discussions, and mutual consultations and later on disseminate them, so that they keep his men informed and prepare an atmosphere of emotional security and integration in which people may develop attachment and be honest.

It has been observed that many managers and the executives under-rate the honesty, helplessness and commonsense of their fellow-men, and forget that it is social surroundings of the factory which to a large measure makes them what they are. When faced with complaints of misbehaviour or strikes, the managers forget the extent to which they themselves are responsible for the same. "There is no behaviour on the part of workers which is not exactly paralleled by that of management. Workers make a great deal of fuss about status, and so

do managers, workers engage in restrictive practices, and so do managers. Workers steal and so do managers, when as often happens they take home raw materials or goods produced by the firm (they make the practice even worse by doing it openly). Workers demand higher wages, managers higher salaries and so on."[1]

It is to be noted that no leader can lead the group and achieve the goals of the organisation without raising the morale and social conditions in the factory. It is only possible when there is "co-operation and better understanding in the organisation". It is a dangerous fallacy to suppose that 'a leader has a powerful personality, a 'magnetic eye, a commanding voice and so on, by which he will be able to do what he wants.

Dr. Harris stresses that leadership is not the sum of individual domination and contributions, it is their relationship ......the ultimate authority and true sanction for leadership, at every point where it is exercised resides—not in the individual however dominant strong or efficient he may be, but in the 'total situation' and in the demand of that situation. It is the situation that creates the imperative, not the individual."

(2) *Executives in the Organisation :*

Closely associated with the role of 'Leader' in the formal or informal organisation, is the part of 'Executives' who assume the office of guide and friend for the coordinated development of the enterprise. Mr. William E. Henery[2] while pointing out the relationship of the executives and the organisation stressed that social pressure plus the constant demands of the busi ness organisation of which is a part, direct the behaviour of executive. "Success is the name applied to the whole hearted adoption of the role. It assumes that the individual behaves in the manner dictated by the society and society

[1] J. A. C. Brown—The Social Psychology of Industry, pp. 236-237.

[2] William E. Henery—The Business Executives—A study in the Psychodynamics of a Social Role. American Journal of Sociology. LIV (Jan. 1949) pp. 286-291.

rewards the individual with "success" if his behaviour conforms to the role. It punishes him with failure "'should he deviate from it". It has been further pointed out that it is the desire for achievements, mobility-drive and the idea of decision-making and authority that bind the executives to play a significant role in the business. The executives directly influence the group in which they work and this influence makes or mars the prospects for the future development of the said organisation. It has been very well summed up by Mr. William E. Henery[1] thus : "a successful executive represents a crytallization of many of the attitudes and values generally accepted by the people. The value of accumulation and achievement of self.-directedness and independent thought and their rewards in prestige and status and propriety are found in the group."

(3) *Decision Making as the Central Function of Leadership* :

In an enterprise, as in any social organisation, it is the 'decision making' that stands at the root of its action and progress. A correct idea if developed on scientific lines in the organisation, brings the fruits in the shape of co-operation and progress in the organisation. From analytical point of view, decision-making assumes two shapes namely, personal decisions and collective or organisational decisions. The personal decision-making cannot be delegated, while the organisational decision-making can be delegated.

The most interesting point to be noted is that the decisions are dependent upon the circumstances and the purpose of the organisation. To be more specific, the field of decisions consists of two parts : (*a*) purpose, and (*b*) the physical and the social world, the external forces and circumstances, etc. To attain the goals of organisations, the decisions are taken at various levels. This helps in fulfilling the purpose and getting the co-operation of the group and the individual.

[1] Ibid, p. 107, Quoted by R. Dubin "Human Relations in Administration."

The second stage, the relationship which cements the bonds of individual with the group is the recognition of status and sharing the earning in the form of 'wages' and salaries. The proper communication of the ideas and decisions etc., helps the organisation in building up the place in the social field. The above aspects, which can be termed as 'social handles' form the linking of force between the individual and groups.

Status :

"Status is an important kind of cement that binds an organisation together. When authority becomes relatively stable and when functional specialization is established, the development of status symbols for each position in the organisation serves to institutionalize and regularise the structure. An established organisation always has a status system."[1] The status system includes visible, external markings that systematically rank individuals and groups in relation to each other. Mr. C. I. Barnard[2] has divided status into two parts namely, (1) the functional status in the organisation and (2) the status system known as command authoritativeness "Scalar" which is determined by (i) the relationship of superiority or subordination in a chain of command or formal authority and (ii) by jurisidiction.

Functional status is a general attribute. For instance, a fitter whose job is to set the machine and prepare it for operation. So, he is known by the function he performs. It is presumed that he cannot give advice in any other field say of medicine nor he can be a preacher in the temple.

On the other hand, in the case of 'Scalar'[3] the 'status system' assumes the role of vertical or horizontal relationship between the superior and the subordinate. It is to be noted

[1] Human Relations in Administration—The Sociology of Organisation—p. 254, by Dr. Robert Dubin.

[2] C. I. Barnard—Functions of Status System in Fuel Organisation, pp. 255, 62-77.

[3] In Germany, when the 'scalar' organisation were developing, organisation status was carried over widely into generalised status in German Society.

that status is a general attribute of an individual associated with the occupation.

If it is closely examined, it can be found out that all the members of a formal organisation are preoccupied with the question of status. Managers and the leaders of the organisation have to face constantly the various problems of status. Mr. Barnard has classified the various aspects known as "apparatus for measuring the status to clarify the ideas surrounding the significance of status in the organisation. The apparatus[1] constitutes the following categories.

1. Ceremonies of induction and appointment.
2. Insignia and other public indicia of office and calling.
3. Titles and appellations of office and calling.
4. Emoluments and perquisites of position and office.
5. Limitations and restriction of calling and office.

It can be said in brief that the "status system is not the product of irrational mythologies and rationalisations but are specific modes of adaptation of behaviour to fundamental characteristics of individuals and to the fundamental physical, biological and social properties of systems of 'scalar organisations."[2]

Emoluments (*Wages and Salaries*) *:*

Mr. Whiting William has emphasised that "everywhere among the workers a man determines the social standing of himself and his family not so much by the earning power as by the nature of his job. This universal connection between a man's work status and his community standing.............. constitutes by far the most important as well as the most elusive of all the "conditions of work". Emoluments form a small portion of the reward paid to the worker and the rest goes away in "the shape of 'satisfaction' astonishingly intricate and imponderable and indispensable."[3]

---

[1] C. I. Barnard—The Executive Development, pp. 250-257.

[2] Ibid., pp. 257.

[3] Quoted by R. Dubin, pp. 58-63.

The above idea has been very well developed by Mr. Dostoievsky, who explains in "The House of Dead" that "to reduce a man to nothing, to punish him atrociously, to crush him in such a manner that the most hardened murderer would tremble before such punishment—it would be necessary only to give his work a character of complete usefulness.........".

So, it is proved that it is the usefulness of the job which is done by the people in the organisation that encourages them to extend their true and whole-hearted support for the success of the organisation and on the other hand, the emoluments the people receive, has a social handle. The status and the wage combined together give the affinity and develop the relations in the organisation.

Communication :

The administrative organisations are systems of co-operative behaviour, and, the members are to orient their behaviour with respect to certain goals that are taken as "Organisation objectives"...... To attain these objectives the participants cannot be left to themselves in selecting the strategies that will lead to these objectives. For, the selection of a correct strategy involves a knowledge of each as of the strategies employed by others.[1] For this purpose, a well-thought out communication system is to be developed, which will help in the development of the organisation.

It can be further pointed out that 'Communication is a complex process involving many dimensions. These dimensions have been classified by Prof. Rensis Likert[2] as (i) the transmission of material from the sender to the target audience ; (ii) its reception and comprehension and (iii) its acceptance or rejection. These dimensions are influenced by the diverse nature of material to be communicated. The material has been classified[3] as (i) cognitive material, such as ideas, suggestions

[1] Herbert A. Simon—Administrative Behaviour, pp. 71-73.

[2] Prof. Renis Likert—New Patterns of Management, p. 43-44.

[3] Ibid., p. 44.

experiences, policies and action, problems, progress toward goals etc., and (ii) motivational and emotional material, such as emotional climate or atmosphere, altitudes and reactions, loyalties and hostilities, feelings of support, appreciation and rejection, goals and objectives."

The emphasis is on material which is transmitted in the organisation. But the complexities are due to the 'nature of the material'. For the structure attitudes, loyalties, feelings, etc. which are governed by the group behaviour need careful understanding and practice. The appropriate system will lead to the development of friendship and mutual respect."

What we Need :

Following industrial development in the wake of economic planning in India, social systems and institutions have been undergoing change and a new industrial social system is now gradually emerging.

Social relationship in industries stands differently as compared to the relationship found in village community. This contrast has affected the speedy emergence of new industrial social order. However, old customs and traditions are now giving place to new ideas and new social system.

Need for Research :

To understand the basic principles and to put them in practice, the ideas of social justice need constant investigation. This will help in two directions namely, (i) improvement in the relationship of men and their management and (ii) development of the potentiality of work.

HUMOUR & ABSURDITY IN JUVENILE LITERATURE

DURGA PRASAD PATNAIK*

College of Music and Fine Arts

Vir Hanuman pulled out the colossal mountain and carried that right to Lanka ; Devas and Asuras—churned the vast ocean by the help of the biggest mountain, Mandara and the longest snake Basuki ; Vishniu cut the Demon into two pieces but as he tested 'Amrit' both of his parts got life and lived as Rahu and Ketu. The sons of Sagara dug out the vast sea, so it is called sagara after their names. These are the tall tales we have in our Ancient literature.

We take these exaggerative stories as absurd stories. Not only children but even grown ups enjoy their obliquities for they intensify experience.

We meet a good deal of absurdity in juvenile literature. Every country, age and period has its literature for children. It grows out of kings and queens, religious proclaivities and even from the life of common people.

There was a gaint with many hands and heads. There was a gaint with horns and long ears. There was an old gaintess who cooked her food using her feet as fuel. There was a cruel gaint who secured his life inside a small casket. The casket was inside a chest, the chest was in a chember of a temple, the temple was under the deep water of a pool, the pool was in the remote part of the land.

Animals talk with each other ; they talk to men. Such are the involutions of imaginative literature. They are not felt as absurd although they are intrinsically so. Panchatantra, Hitopadesh and Jataka Katha are recondite with such stories.

Absurdity in stories has its purpose. It affects entertainment through curisity, gives relaxation and enjoyment and solves problems, it transports the child's mind to the world

of fantasy helping it to think and develop, it enriches his imagination and develops his creative faculty.

Anatole France has said, "The whole art of teaching is only the art of wakening the natural curiosity of minds for the purpose of satisfying it afterwords." Horace Mann wrote, "The teacher who is attemptiyg to teach without inspiring the pupil with a desire to learn, is hammering a cold iron."

Do these stories mean anything or not ? They do. There are some exceptions of course of stories which have as their primary aim, enjoyment.

Let me make clear what they do mean. The gaint who secured his life inside a casket though absurd is practised by people of our time. We know that Hitler had a number of men similar to his own cast of features and figure. Now-a-days Ministers, Presidents secured their lives inside the casket cordon of the police and arms.

We know the story written by Hans-Anderson where an old ass, an emaciated dog, a wan cat and a frightened cock became friends and scared away the poweful robbers and occupied thier camp. Here the child enjoys the spirit of unity.

In gaint story the child does not question the absurdity of the story. He sympathises with the hero who faces trouble after trouble and at last to the enjoyment of the child kills the gaint by destroying the life inside the casket and marries the girl. who was under the case of the gaint.

A dissatisfied goose changed every part of its body with other birds, its neck with a swan, its beak with a pelican, its leg with a crane, its tail with a peacock and so on. At last he proved to be a hybrid, an utter failure as a bird or a creature ; it became a good-for-nothing, quite helpless even to protect, its own life against any danger.

Here the child takes the absurdity less into account. He enjoys the change and feels that though the change makes one beautiful, it turns one into an useless and good-for-nothing creature. In practical life we get persons with ideas to achieve success in everything but turn out to be good-for-nothing fellows.

In the story "The old man's mitten', there lived a mouse, a frog, a rabbit, a fox, a wolf and a bear. In side thə mitten though absurd the story teaches one how to ajdust in a small space. Now-a-days when I travel in a train in the third class compartment, I always remember the story ; when we fail to make adjustments, trouble arise.

In the story "Alice in wonderland, the girl followed the rabbit and entered, into its holes. The child does not stop and question, how was that possible on the part of a girl to get into a small rabbit hole. The child only anxiously waits to know what happens next and so is carried away by the links of the story.

There are stories where absuridity is to give enjoyment and only enjoyment. Once a man all of a sudden found a great number of camels inside a town. His friend explained that as follows.

A man went to meet his brother-in-law. He found his sister who was cooking food for her husband in seven big earthen pots. He asked her for food and she served him and informed him that her husband was out into the woods to fetch fire wood. He consumed all the food and went to meet his brother-in-law. On the way he found him coming dragging thirteen carts loaded with fire-wood and one cart attached to the other. He informed him that he had consumed all the food ready for him. The man with the carts got furious and challenged the other man for a fight. They both fought. At this time an old lady was coming, carrying water, in a big pitcher. They requested her to refer this match. She all at once lifted them on to the pitcher saying", I have no time to see you fight. You fellows fight here. While she moved homewards carrying the two persons on the jar, a camel-herd-boy was frightened by the sight and just to escape the scene spread his napkin ; gathered all his camels, made a bundle and took to his heels carrying that on his head. A Kite came from the sky, snatched the bundle and flew away. Unable to carry the bundle, it dropped that into the corner of the eye of the princess who was whipping

her hair looking upwards into the sky. She asked her hand maid to remove the particle from her eye. She accordinlgy by the point of her fore-finger removed the bundle and tossed that off into the air. The bundle burst and the camels were scattered in the city.

All this is like a whirligig of absurdity, the main purpose of which is to give sheer enjoyment.

These are all old stories. Mere repetitions will not help to improve children literature. Times have changed: we have fresh problems—before us. Yesterday's absurdity has come true to-day in some form. So we want a new kind of absurdity to suit modern ends.

There is still a problem before children story writer, that is how to put absurd things before children, how much to give and in what manner. I have tried to put absurdity, in my stories* but I am not so gallant to manage them as my predecessors did. Each writer has his own way. There is no rule, no grammar to make a children story. I only put what is artistically necessary.

Another point of children literature is humour. Humour is to literature what salt is to meat. It adds energy to the story to vitalize the reading.

Humour for children is different from that of grown ups. Children do not understand wit or complex intellectual ingenuity. They remain at the level of imaginative responses.

There was a clever barber who cheated a wood-cutter by purchasing his wooden saddle along with the wood. The wood cutter in turn came to the barber and made a bargain to shave his friend. On that condition the barber had to shave the whole body of the wood-cutter's friend, an ass and was paid by his own coin. This is the kind of humour children love.

Thus absurdity and humour in its endless varieties form an essential of Juvenile Literature.

---

*The writer has already written ten story books and seven dramas for children. Out of these books 5 story books have got central award.

SIR THOMAS BROWNE

GANESH DUTT SHASTRI

There is a peculiar charm in the writings of Sir Thomas Browne that cannot be separated from his personality. A man of wide and extensive reading and of a mind whose peculiar cast was that of a poet, mystic and scientist, he had very large sympathies for a variety of things from the mystery of death to the vulgar superstitions of man. In a way he was the child of his century, although he kept himself aloof from the political turmoil of his day. He belonged in spirit to the epoch of the Ranaissance, and shared with his age the cult of heavy learning and prodigious erudition. Pedantry sat lightly on the shoulders of scholars of that age. Men could store vast loads of knowledge of every variety in their heads, and what use they made of their knowledge. The display of learning in their writings by these mean is a common trick of style with them. It is not confined to the Euphuists alone who did delight in making use of their acquired learning towards the ornamentation of their chequered style ; it was shared by men as diverse in their tastes and aptitudes as Bacon and Browne, Taylor and Hooker, Milton and Marvell. Knowledge is for display and the 17th Cen. writer displayed it in full. Browne had this trait in common with most writers of his age, but he was no pedant. Writing was not an end in itself for him, nor was it only a means to record the rich spoils of a well read and erudite mind for the good of mankind. For him it was a mode of stock taking, a sort of self-confession, an outlet of personal feeling, a kind of biography of the mind. His writing is coloured with his personality. He peeps through what he writes, and we can see the sly humorous doctor having a smile at himself, at the rich glowing lyrical outbursts of his fanciful style. To the humanitarian scholar's of the Renaissance School, he joined the mind of a poet and that of a man of science. He had an abundant measure of poetic imagination. He had a command of gorgeous imagery and he

saw things not only with his eyes but also through his heart. No wonder then that his descriptive power should possess the eloquence of a poet in the vividness of its imagery and picturesqueness of suggestion. His style is permeated with a poetic sensibility. His words quiver with emotions. He has the happy gift of the born poet to suggest through imagery. His language is the touchstone of a sensitive heart that loves a beautiful phrase for its own sake. His imagination is all sweeping and endows his style with the glow of beauty.

The explanation of his charm lies in his character. Of him could it be said that the style was the man. Even in his own day writing was put to diverse use including the cultivation of fine writnig. Bacon wrote to address himself to the "bosom and business of men" for their good, but not too "curiously". He would have scouted the idea of writing for mere pleasure. Milton wielded his powerful pen in vindication of what he held to be sacred in life and religion. Others too pursued the craft of writing either as a means of creative or commercial art, or as custodians of moral or secular knowledge. Browne might have had his own axe to grind, but in doing so he was carried away by the artist's love of beauty. The necessity for writing became for him an occasion for the pursuit of verbal beauty. And this is no mechanical way with the use or employment of mere tricks. He wrote, in the first place, as a scholar ; and in the second, as a craftsman. The one gave to his writing the weight of intellectual profundity or scholarlship. The other added grace to it. Words came to him naturally, though he did not always prefer the common vocabulary. He shared with his age the scholar's craving for Latin words and pharseology, and made copious use of both. His style is replete with archaic or obsolete Latinisms, his predilection for polysyllabic Latin words is undisguised, he likes to make a scholarly display of his learning no less in his references and albesions as in the selection of his words. Some of his mannerisms belong to the unsettled state of language in the 17th Century. The varying forms of the genitive as used by him are an illustration of this inchoate nature of the language. The omission of *ed* from the pluperfect

form of verbs ending in 'd' or 't' in certain cases is not a mere vagary on his part. He invariably treats 'h' as a vowel, and uses the indefinite artcle 'an' before words beginning with the aspirate. In the spelling of certain words like *than* or *too*, he does not adopt the modern form, but writes them as *then* or *to*. His language is thus full of features peculiar to his times, and cannot be regarded as nearer to our own day. Yet the magic of the word is there, because the spell of his writing is the product of his quaint humour.

Verily Browne was a humorist. He shared the speculative and brooding spirit of the Elizabethan scholar. In fact, his honour lay in the meditative bent of his mind that was struck with the beauty and mystery of life and nature and loved to browse in pastures of melancholy thought. There was something of both Jacques and Hamlet in him. This was more a habit of mind than a matter of creed. He loved to be in love with melancholy, and the contemplation of death opened the sluice gates of his fancy, and gave to his lyrical genius a fillip to unwind itself. The *Urn Burial* is a rhapsody on the thought of death. Some of the finest passages in the book relate to the idea of death, the mystery hidden beyond the veil of life. The scholar's curiosity is excited by the discovery of a few urns containing human bones and ashes, and the occasion is seized by Browne to write a dissertation on the vanity of life. The brooding scholar turns a poet in the eloquence of his language with which he condemns the futility of mere earthly or sepulchral permanence, or describes the joys of the Soul's Immortality. In such passages Browne reaches the high water mark of lyrical beauty. For the words of Browne are endowed not only with the beauty of concrete imagery, they are full of musical harmony. They illumine the mind with the clarity of their suggestiveness, and they please the ear with the sweetness of their music. His language is a quest for beauty, and he is one of the best phrase-makers in the English language. His words are full of music, eloquence and picturesqsue beauty. His interest is not in the theme of his discourse ; that only provides him with an occasion to unburden his mind. For the rest his imaginative wit is

at work. Ideas come one after another in thick pursuit, and Browne invests them with the glow of his powerful imagination. In the ardour of self-expression his keenest susceptibilities are aroused and the clothing of ideas in colourful language becomes for him a fascinating pastime. In *Urn Burial* which is his masterpiece, prose becomes a lyrical rhapsody where verbal felicity is one supreme ideal of writing. It is an undefinable quality of mind that is at work. Writing has become a pursuit of aesthetic delight and a quest of beauty. It is art for art's sake.

What makes *Urn Burial* a jewel of fine writing, one of the finest specimens of English prose style in the 17th Century is its quality of coordinated imagery. Ultimately the end of all writing is communication of thought and the mood of the writer. And the more clear and distinct it is, the more effective and impressive it tends to be. The aid of tropes and figures and other literary devices is taken only to heighten the effect of lucidity in order to awaken the reader's perception quickly and effectively. Such comprehension is always accompanied with delight. Imagination plays a great part in such mental effort to bring about a perfect harmony between thought and word. The poet, by exercising his imagination, goes to the soul of the thing and clothes it with a celestial phrase. This is his in-born gift. Browne too, had had some such gift. The mantle of the Elizabathan Age which was so highly poetic and sensitive to beauty had fallen on him too. He shared in its poetic quality and in the turn of his expression, in the imagery of his thought, nay, even in his poetic conceit, sometimes vying with the keenest of metaphysical poets in its mysticism and profundity, he displayed the poetic wit of that age. His words flowed out of the heart of a passionate dreamer, whose imagination and wit, scholarship and experience, meditative nature and love of beauty and mystery, all helped him to endow his words with a rare charm of impassioned eloquence.

But it is not the contents of the book that now endow it with value. It is in the context of developing prose as a display of poetic treatment of words, that its attraction lies for

us even today. Nothing could be remoter from the matter of fact utterance of prose style than the sonorous assemblage of words chosen for their rhythmical and musical quality in *Urn Burial* where the main consideration of the writer is the maintenance of rhythm and music of sentences in perfect concord. *Urn Bural* becomes a poem in prose on account of its verbal felicity. Browne, like Milton, had to forge his own instrument out of the materials available. A hunt for neologism can be perceived in the diction and style of both. Mere expression was not their aim ; they went for graphic word play, and bestowed all the labour of their well read mind in their language. Milton was only a poet, seeking to outrival all ancient and modern writers of epic in his own work. Brwone had no such ambition but he also had to contend against the existing deficiencies of prose, and went after neologisms and word coinages with the gusto of a pedant. This has made him a figure of controversy amongst his critics. While a few are fascinated by the rhythm and music of his word structure, many more are horrified at the strange outlandish vocabulary of which he was fond. Was he really enamoured of Latinism ? It would have been strange had he been otherwise. He was influenced by the impact of his age when Latin was the language of scholars in Europe, and the vehicle of all serious writng. And English prose was only in the adolescent stage, needing rich and powerful aids. Scholars like Browne gave to their own languages the benefit to their learning by fine borrowing from Latin. Browne too had his own weakness and partiality for Latin and gave preference to it. But it would be wrong to think of him as only a pedantic writer. He could be very graceful, simple and lucid, where he liked and did not feel called upon to use the language of mere erudition. "*Religio Medici*" is as simple as any writing could be. Where the demand of fancy was stronger than the requirements of subject matter, the writer of *Urn Burial* wrote like a poet. His selection of words was that of a lover of music. And the rhythm in which the words flow could vie with the richest poetic lines of the Elizabethan age. The age in which Browne lived had not yet evolved a pliant and vigorous prose, it was

still in search of a stable vocabulary. Latin was the *lingua franca* of Europe as also the medium of scholarly self-expression in England too. Bacon himself wrote a good deal in Latin, even going to the length of giving a Latin dress to his popular Essays. Milton too, spent some uneasy time over the selection of language for his epic venture. All this, when kept in mind, may enable us to understand and appreciate better the literary display of Browne in the use of prose. What with the demand of the age, and the demand for exrpressive phraseology borrowings from Latin were freely made and indiscriminately too. Browne was no exception to this widespread quality of the age.

Browne and Bacon, standing at the opposite poles of the literary axis of the Jacbean Age, had one thing in common—their poetic sensibility and while each wrote in prose from his distinctive personal angle, the flavour of a rich poetic imagination, literary wit, and verbal display of fancy, so widely popularized by the Euphuists in England and their counterparts in Europe, seasons the *Essays* of Bacon and the *Urn Burial* of Browne. Bacon characterized his essays as 'dispersed meditations ; 'and who can doubt after going through *Urn Burial* that here-in also its author has indulged in meditative eloquence and reflective melancholy, caused by the instability of things in the universe. Yet Browne is not basically interested in the problem of *Death*, though he discourses on it and lets his scholarly fancy play with the idea. It is not the melancholy of death that grips his soul, his *Urn Burial* is only a verbal exercise in literary wit. For once a scientific mind allows itself to be amused by the pyrotechnics of mere words and the lid being removed his mind, stored with wide ranged knowledge drawn from books, experience, and nature, tumbles out verbal tokens of thought arranged in all the glamour of the Elizabethan tradition.

PLEA FOR NON-ALIGNMENT

PADMA G. SAHANI.

VI. Pol. Sc.

No other policy has been so much used and abused as the policy of non-alignment. India since her independence has been following the policy of non-alignment as it has been considered by Nehru and his successors as the most appropriate external policy in the cause of the national interest and the only acceptable alternative to the majority of the people of the country. But some of the military incursions on the northern borders of India and the Indo-Pak conflicts in recent years have given rise to doubts in the efficacy of this policy. However, if one analyses the circumstances and the basic tenets of the policy of non-alignment one would be convinced of the desirability of such a policy for India.

India achieved her independence in a very critical and an unfavourable international condition. It was the early period of 'Cold War' likely to be turned into a 'hot war'. In such an unpropitious international context she has to preserve her hard-won freedom and to make rapid economic advancement and industrialisation. Both of these aims demand a long spell of peace and as wide contacts as possible with other countries without prejudice to her own independence and irrespective of ideological differences. The best and most advantageous course consistent with the Indian tradition and objectives and supported by the diplomatic history of the world was "to keep away from the power politics of groups, aligned against one another."[1]

Further, it became obvious in 1947 that joining any of the two power blocs—the so-called Soviet and American blocs—for a militarily and economically weak country like India would be neither in its own interest nor in the interests of the larger

[1] India's Foreign Policy, p. 2. Govt. of India Publication, New Delhi.

cause of world peace. India's joining either of the blocs was likely to accentuate the international crisis rather than easing it. If India joined a bloc she would be forced to give up her independent out-look and would be always playing second fiddle. An independent policy and an unbiased attitude to world problems are likely to be more helpful for India in preparing a 'climate of peace' and in easing the tension in her own way[1]. The policy of non-alignment can give India a latitude to extend the area of peace.' India favours non-alignment because alignment is likely to endanger the existence of the United Nations—the only international machinery for the maintenance of peace and security. Mr. Nehru as early as 1946 could visualise that the United Nations could not be able to function effectively because of the growing bloc rivalry. This early realisation also convinced him that the correct way for India and in the interest of the United Nations would be to remain non-committed to both the blocs or to remain neutral[2]. The League of Nations, besides a numerous other reasons, failed because the member-States of the League had formed their own blocs. "Indeed the more groups and blocs are formed, the weaker will that great structure become[3]. Therefore, Mr. Nehru does not want that the same story should be repeated but his cry in 1947 against the formation of blocs was unheard. For India as the concept of alignment is detrimental to the whole idea of democracy in international field it is also harmful to the United Nations.

There is another reason why India adopted the policy of non-alignment and an independent attitude to the problems of international affairs. As none of the blocs provides sufficient incentive to India to commit her loyalty to any, on the contrary,

---

1 ....from a larger point of view, not only of India but of world peace, it (alignument) would do harm. Because... we lose that tremendous advantage ground...... of using such influence as we possess in the cause of world peace." Op. Cit., P. 39.

2 Mr. Nehru does not like the word 'Neutral' being applied to India. Op. Cit., p. 86.

3 We wish for peace, India's foreign Policy, Op. Cit., p. 11.

alignment is likely to create mutual doubt and suspicion, India favours an independent attitude to world events and view each issue on its merit[1]. It has not been possible for the nationalist India to cast off the old suspicion of Western imperialism even during her independence days, and as such, alignment with the west would be against India's anti-colonial outlook. On the other hand, she could also not be oblivion of the 'totalitarian' system and 'regimentation' of life in Russia. Alignment with any bloc would have meant sacrificing her indepencence. India does not want to lose her independent way of thinking and independent judgment by becoming an 'apron-string' to any Power. Besides this, alignment would minimise her efforts in promoting the cause of world peace. India fortunately has no legacy of conflict with her as Europe has got and, as such, India by following an independent policy and judging every issue on its merits can help in solving knotty problems arising out of bloc rivalry and thereby lessening international tension. India does not like to see at the panorama of international politics from another's eyes nor does she want to spoil her past record of being free from hatred and conflict by aligning hereself. This is the psychology working behind India's policy of non-alignment.

From the point of view of her security as well as from the military point of view India's alignment with any bloc would not have been advantageous. Alignment instead of keeping India outside the cold-war rivalry and the theatre of war might have made India the battle ground. Her own military weakness would be an incentive to the other bloc to start military offensive against her. Mr. Nehru while emphasising non-alignment has kept in his mind the geographical contiguity with Russia and China. It was this fact of geography which led Nehru to sign the Panch Shila Aggreement with China in 1954.

India's opposition to alignment with military bloc leads to her deprecation of military bases in foreign countriess. Mr.

---

[1] India's foreign Policy, The British Interpretation: 1947-57, Sharma, Sri Ram, p. 77, India.

Nehru's opposition was not merely theoretical but based on practical considerations . In one of his Press Conferences he said "We dislike the idea of foreign bases completely not only because on principle we do not like it, but because from the strict practical point of view, it is not helpful. Ultimately,...... a foreign base in a country is always a symbol of foreign power in that country......it is an irritating symbol and is always a reminder of war. It creates the fear of one side becoming more powerful than the other."[1] In short, it creates fear psychosis. This dislike for foreign bases has to some extent its nationalist and anti-imperialist bases. India on this point is very sensitive and is very close to the U.S. S. R. This is the similarity between the two ends here. Russia is opposed to foreign military bases because she finds in them the sinister move on the part of the Western Powers mainly the U.S., to encircle her and to use these countries for espionage and anti-Soviet propoganda; India considers these military bases as sign of servitude and ethically wrong.

India does not like to align herself with any bloc by entering into any military pacts. Mr. Nehru had not made any secret of his views on military alliances. But at the same time he was not opposed to regional security arrangements which the Charter of the United Nations permits. He would be the last person to condemn any peaceful regional security arrangements working under the Charter. In 1949 when the North Atlantic Treaty Organisation was formed, Mr. Nehru welcomed it. He found in it nothing objectionable and contrary to the spirit as well as letters of the Charter[2]. Except the Communist Party of India none other Party was critical of the treaty. It might not be stretching the point that Mr. Nehru's early reaction to the North Altantic Treaty was to some extent guided by the events in the Eastern European Countries and the gradual

[1] Costructive Approach Needed, India's Foreign Policy op. cit. p. 234.

[2] "When it (NATO) saw the light of day it was a defence organisation of certain countries associated in joint defence.........at that time it seemed to me nothing but a justifiable reaction for certain countries who were afraid of certain developments. India's Foreign Policy, p. 89-90.

eclipse of democracy from there during 1946-48. He was distressed not because these countries became Communist but the way in which political transformation was forced upon them from without. Mr. Nehru did express his satisfaction on the regional defensive planning in the Atlantic area by the Atlantic Community. This led the Soviet Press to criticise Indias, foreign policy and India as a 'stooge' of the Anglo-American bloc[1].

India's objection to military pacts is also based on the facts of history. Military pacts tend to create stronger counter-military groups leading ultimately to war. Such pacts do not provide any real security. They create hostile atmosphere and lead to mutual recrimination. Such military groupings also undermine the confidence of the member-states in the World Organisation. The regional security system can not be so good as that of the collective security system. The experience of the working of the League of Nations has justified this fear. The Locarno Agreements of 1925 ; the Stressa Front of 1933 The Franco-Russian Mutual Defence Treaty etc, all had undermined the confidence of the member-States in the Collective Security System of the League. So, India prefers to have faith in the United Nations Collective Security System rather than entering into military alliances. Military alliances only give a conception of false security.

With the passage of time and the experience of the working of NATO this early dislike and condemnation of the military pacts later on became more deep and intense. Suspicion also spread to NATO especially because of its involvement in defending the colonial possessions of the member-States in Asia and Africa. The military and economic assistance given to the members of NATO are for the defensive purposes. But some of the members like the Netherlands, France and Portugal freely made use of the arms and amunition supplied to them under the NATO Agreements to perpetuate colonialism in Indo-China, West New Guinea, Angola, Goa, Daman and Dieu. Thus, the misuse of NATO hardened India's attitude towards mili-

[1] Soviet News, 1949, Mascow.

tary alliances. For India these regional defensive arrangements are merely cloaks to make preparations for war. This view of India and some other Asian countries like Ceylon, Burma, and Indonesia is not appreciated by America and it has led to some differences among them. This opposition to military pacts became more vocal when America tried to have such military arrangements in the Middle East in 1951 and 1955-56 in South East Asia, in 1953-54, for the sake of defence of these areas from the possible communist aggression. India considered it dangerous because it might lead to the Maginot Line mentality among the powers of the region. SEATO was doubted as the modern version of protectorate and India was critical of Seato because it had brought cold war nearer to her frontier. It was the general belief in the country that Pakistan had become the member of Seato not with a view to fighting against communism but to fight against India, and the Pak attack on India in 1965 had clearly justified India's belief. True it is, that Seato had not been responsible for the formation of a counter regional military group but it had, at least, increased tension in the area and had led to schism in the Asian solidarity.

India's opposition and criticism of military alliances are not confined to the Anglo-American military pacts only but equally she is critical of the Warsaw Pact sponsored by Russia. This had led India to face criticism from both the blocs. But the risk of this type of criticism is inherent in taking such an uncommitted and independent attitude in the present day split world. Still it is a risk worth taking rather than aligning herself with either of the blocs, and There by becoming a power on the chess board of power politics.

This independence of out-look, the insistence on judging every international issue on its merit and keeping India outside any military entanglements has been given general support by the Press and the Public. However, this aspect of India's foreign policy has been subjected to some criticism also. It has been called as the policy of 'neutrality' and 'passive'. But such a criticism is premature. Neutrality as a policy in the peace time

can not be conceived of any country. A nation can be neutral in war but certainly not in peace time. "Neutrality as a policy has little meaning except in times of war."[1] India can be called neutral only in the context of cold-war. Otherwise, India is "committed to various principles, various urges, various objectives and various policies"[2] and is an active member of the United Nations and a partner in the Commonwealth of Nations. Such a country can not be neutral nor this would ever mean shirking from responsibilities or to be passive during the time of aggression or when the peace is in danger. "Where freedom is menaced or justice threatened or where aggression takes place, we can not be and shall not be neutral".[2] India had cooperated with the United Nations in stopping aggressions in Korea, the Suez and Congo. The Korean war was really a turning point in India's relations with the leaders of the two contending blocs as it demonstrated to both that the policy of non-alignment was not, as some say, the policy of 'sitting on the fence or a neutral policy. India's non-alignment could prove helpful not only for the country but could also be a factor in maintaining International peace. India's role as an honest broker was recognised. It also convinced the big powers that India on the basis of non-alignment wanted to develop her economy and not to be the moral leader of the newly independent countries of Asia. Nehru was definitely convinced that for a weak country like India the policy of non-alignment was the right and positive approach. It was in the best interest of the country and in the good cause of the world peace This policy has the general support in the country and any change in the pelicy or alignment with this or that bloc is likely to disrupt the unity of the country. Our whole economy is geared to our external policy of non-alignment. Giving up the policy of non-alignment would not be a wise step. One wonders in case India may have to change her external policy, she may have also to change her foreign economic policy, Could we afford to

1 The Larger Scheme of Things, India's Foreign Policy, Op. Cit. p. 5.8

2 A Positive Approach, Op. Cit., pp. 85-86.

change the economic policy ? The answer seems to be simple 'no'. The Chinese attack on India in 1962 and the military set-backs suffered by India, no doubt, had led to a demand for giving up the policy of non-alignment from a section of the people but the majority in the country had given support to it. Nehru had defended the policy of non-alignment in Parliament before his death although he had acknowledged that originally it was unrealistically implemented. Nehru's non-alignment after the Chinese aggression became more realistic and positive but the basic tenets of the policy remained the same. There were adjustments and reappraisals of the diplomatic means. In the post-Nehru period the makers of the foreign policy of India have not deviated from the basic elements of the policy of non-alignment. Mr. Sashtri during his visits to the Cairo Conference and Mascow had reiterated full faith in the policy of non-alignment. At the time of the Indo-Pak conflict once again from a section of the people there was a demand for a change in the policy. But the conflict further proved that the non-alignment policy was the right type of policy for the country, although Mr. M. C. Chagla considered it necessary to make some diplomatic reappraisals of our policy leaving the principles untouched. However, with the signing of the Tashkent Agreement in January, 1966 the policy of non-alignment has demonstrated its flexibility and also rightness of the choise. The sudden death of Sashtri jee and the subsequent tussle among the members of the Congress Parliamentary Party for leadership had led to some uneasy speculations about the future of the policy of non-alignment. But with the election of Mrs. Indira Gandhi as the Prime Minister, those doubts have been removed and her affirmation of the policy of non-alignment in her first broadcast to the Nation on the 26 January, 1966 has further given credence to her sincerity in following the policy of non-alignment. It is hoped that India would continue to follow the policy of non-alignment as her national interest could best be served by maintaining an equi-distance between America and Russia, especially at the time of China's belligerent attitude. Given proper diplomatic support with a compli-

mentary defence policy and an equally dynamic external economic policy, it would not be too much to hope that the policy of non-alignment would prove itself a success in safeguarding the national interest of the country and also in maintaining peace in the world.

मालवीय जी और पंडित बालकृष्ण भट्ट

डॉ० मधुकर भट्ट

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय और पंडित बालकृष्ण भट्ट दोनों ही प्रयाग की विभूति थे। दोनों ही मालवीय ब्राह्मण—मालवीय जी चौबे मालवीय, और भट्ट जी गौतम गोत्रीय भट्ट मालवीय—थे। भट्ट जी मालवीय जी से सत्रह वर्ष ज्येष्ठ थे। इसलिए और कुछ इसलिए भी कि मालवीय जी भट्ट जी को अपना भाषा-गुरू मानते थे—मालवीय जी भट्ट जी का बड़ा आदर करते थे। भट्ट परिवार और मालवीय परिवार का बड़े पुराने समय से घनिष्ठ संवंध है। पंडित मदन मोहन मालवीय के पितृव्य पंडित गदाधर मालवीय ने ही भट्ट जी का नामकरण संस्कार कराया था। पंडित गदाधर जी, भट्ट जी के गुरू थे और उन्हें संस्कृत पढ़ाते थे। पंडित गदाधर जी जो मिरजापुर के राजकीय हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक थे रिटायर होकर सन् १८५९ में प्रयाग आ गए। पंडित बालकृष्ण भट्ट और गदाधर जी प्रयाग के अहियापुर मुहल्ले में रहते थे। गुरू ने मेधावी शिष्य पाया और शिष्य ने अपने अनुकूल गुरु, और संस्कृत अध्ययन-अध्यापन का सिलसिला प्रारंभ हो गया। साहित्यचर्चा के प्रसंग में वे नित्य नयेश्लोक तथा साहित्य की बातें इन्हें बताते। भट्ट जी प्रायः कहा करते थे कि मैं अपने जीवन में दो-तीन सज्जनों का बहुत ऋणी हूँ। उनमें भी सबसे अधिक ऋणी गुरुवर गदाधर जी का हूँ। भट्ट जी को उत्साह, उमंग सांसारिक बातों में अरुचि, सच्चाई, खरापन, निर्भयता आदि अनेक गुण अपने गुरु पंडित गदाधर जी से प्राप्त हुए थे। कहने का तात्पर्य यह कि मालवीय जी के परिवार से और भट्ट जी के परिवार से घनिष्टता बहुत पहले से ही थी। मालवीय जी के उदय के साथ-साथ यह घनिष्टता और बढ़ी और इतनी बढ़ी कि कालान्तर में भट्ट जी और मालवीय जी एक दूसरे के समधी हो गए।

पंडित बालकृष्ण भट्ट और मालवीय जी में आपस में बड़ा प्रेम था। भट्ट जी मालवीय जी को स्नेह देते तो मालवीय जी भट्ट जी का आदर करते। दोनों ने ही साथ-साथ साहित्य, राजनीति और समाज सुधार के कामों में भाग लिया। प्रयाग में भारती भवन पुस्तकालय की स्थापना दोनों ने साथ-साथ की। सन् १९०७ में प्रयाग से 'अभ्युदय' पत्र का प्रकाशन शुरू किया गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने इसकी स्थापना करके इसका भार महामना मालवीय जी को सौंपा। मालवीय जी की सम्पादन कला और उच्च विचारों के कारण "अभ्युदय" कुछ ही दिनों में व्यापक बन गया। प्रयाग में स्त्री-शिक्षा के प्रसार हेतु गौरी कन्या पाठशाला की स्थापना मालवीय जी के सहयोग से और भट्ट जी की प्रेरणा से उनके सुपुत्र पंडिल महादेव भट्ट और बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने की।

राजनीति में भी मालवीय जी और भट्ट जी साथ-साथ समान रूप से योग देते थे, पर मत दोनों का एक-दूसरे से भिन्न था। भट्ट जी गरम दल के क्रान्तिकारी विचार के थे और लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे जब कि मालवीय जी नरम दल के गोपालकृष्ण

गोखले के अनुयायी थे। कांग्रेस के जन्म से लेकर अपनी मृत्यु के चार-पाँच साल पहले तक भट्ट जी मालवीय जी के साथ-साथ कांग्रेस के अधिवेशनों में जाते थे।

एक दिन की बात है कि मालवीय जी के यहाँ भट्ट जी पहुँचे तो वे अपने मुअक्किलों के बीच बैठे सबके मुकदमों की फाइल देख रहे थे। पास ही कई मुअक्किल बैठे हुए थे। भट्ट जी को देखकर मालवीय जी उठ खड़े हुए और कहा—"आओ पंडित जी बैठो।" और मुअक्किलों की तरफ संकेत कर कहा कि—"आप लोग आज जाइए अब कल आइएगा तो कागज देखेंगे।" यह सुनकर भट्ट जी बड़े रुष्ट हुए और बोले "का मदन। ई कौन रवैया है कि आपन रोजी-रोजगार की बात टाल के हमरे समान अवारन से बैठ के गप्प करौ। पहिले आपन काम देखौ। कोई जरूरी काम हमें नहीं है। हम फिर आय जइबै। हम जा रहे हैं—फिर आय जइबै" यह कह कर भट्ट जी चले गए और मालवीय जी पुकारते ही रह गए।

इसी तरह एक बार मालवीय जी महाराज ने पुराने राजनीतिज्ञ और समाजसेवी चारुचन्द्र मित्र के विरुद्ध सर सुन्दरलाल को कौंसिल का उम्मेदवार खड़ा कर दिया। जिससे बहुत से लोगों ने उनका विरोध किया। उनके अनेक बुजुर्ग और इष्ट मित्र मुं० कुन्जबिहारी लाल आदि उनकी इस कार्यवाही पर उनसे रुष्ट हो गए। उन दिनों राजनीतिक और सामाजिक गोष्ठी का नेतृत्व "हिन्दी-प्रदीप" के प्रसिद्ध सम्पादक पंडित बालकृष्ण भट्ट के हाथ था। भट्ट जी के पास सब लोग एकत्र होकर सुन्दरलाल की उम्मेदवारी के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते थे और इस संबंध में मालवीय जी को गालियाँ भी देते थे।

मालवीय जी पर भट्ट जी का विशेष प्रेम था इसलिए उनको झिड़कियाँ देने का भी अबाध अधिकार था। वे मालवीय जी के पास आए और बोले—"का हो मदन। तोहे ई का सूझा है? सुन्दरलाल जनता की भलाई के लिए का किहिन हैं जो उन्हें कौंसिल में भेजे के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किए हो। तू चारू का विरोध करता है जो अपनी सारी जिंदगी देश-सेवा में बिताय दिहिस और तेरे खैरख्वाह भी थे। तू चारू के विरुद्ध काहे कोशिश में लगे हो।"

एक बार प्रयाग की रामलीला नाटक मंडली की ओर से "सीय-स्वयंबर" नाटक अभिनीत किया गया। इस नाटक के लेखक भट्ट जी के प्रिय शिष्य पंडित माधव शुक्ल थे। नाटक खेला जा रहा था। दर्शकों में पंडित मदनमोहन मालवीय भी थे। पंडित जी उस समय माडरेट थे। धनुष-भंग के प्रसंग में राजाओं की असफलता पर राजा जनक ने जो बातें कहीं उसके साथ-साथ एक कविता भी कहला दी गई। जिसमें ब्रिटिश सरकार की कटु आलोचना थी। जिसका आशय था—"ब्रिटिश कूट राजनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस से मस न कर सके—यह अत्यन्त दुःख का विषय है—हाय।" मालवीय जी इस उक्ति को सहन न कर सके और उसी सीन पर ड्राप डलवा दिया गया। जनक का पार्ट पंडित बालकृष्ण भट्ट के द्वितीय पुत्र पं० महादेव भट्ट कर रहे थे। इसलिए उन्होंने इसमें किसी प्रकार की शिथिलता न आने दी। इस प्रकार की योजना भट्ट जी द्वारा ही बनाई गई थी।

पं० बालकृष्ण भट्ट "हिन्दी-प्रदीप" के सम्पादक थे। आर्थिक कठिनाइयों, ब्रिटिश सरकार की कुटिल नीति और कुछ राज-भक्त समाचार पत्रों (पायोनियर, काशी पत्रिका) आदि की चुगलखोरी के कारण "हिन्दी-प्रदीप" और सम्पादक भट्ट जी पर अनेक विपत्तियाँ आईं। फलतः "हिन्दी-प्रदीप" अपने ३३ वर्षों के जीवन-काल में कई प्रेसों में घूम कर छपा। पहले; किसी दूसरे प्रेस में छपता था। परन्तु जब अभ्युदय निकलना प्रारम्भ हुआ और उसका निज का प्रेस हुआ तब मालवीय जी के जोर देने पर "हिन्दी-प्रदीप" अभ्युदय प्रेस में छपने लगा। उसी समय प्रेस ऐक्ट पास हुआ। सभी समाचारपत्रों की भाँति "हिन्दी-प्रदीप" को भी चेतावनी देने के लिए तत्कालीन जिलाधीश ने भट्ट जी को बुलाया। मालवीय जी यह विचार कर कि जो पत्र उनके प्रेस में छपे उसे चेतावती दी जाय, कुछ दुखी हुए। परन्तु यह भट्ट जी के लिए कोई बड़ी बात न थी। जिस लेख को पढ़कर कलक्टर ने भट्ट जी को बुलाकर चेतावनी दी थी उसे मालवीय जी ने पढ़ा और कहा—"मुझे मालूम होता या पहले देखे होते तो हम कभी इस लेख को छापने न देते।" मालवीय जी ने सत्यानन्द जोशी (जो उस समय अभ्युदय के प्रबन्ध सम्पादक थे) से कहा—"सती, जब लेख "हिन्दी-प्रदीप" में छपने के लिए आया करे तब पहिले तुम देखकर पास कर दिया करो। तब छपा करे।" भट्ट जी को यह बहुत बुरा लगा और क्रोध से दाँत पीसते हुए उन्होंने कहा—"हा, मदन। सती हमारा लेख पास करें तब छपे, हम जहर खा के सो न रहें। हम जैसा लिख देंगे यदि वैसा ही छपे तो छपे नहीं तो बस "हिन्दी-प्रदीप" का जीवन यहीं तक समझा जाय। यदि यही बात है तो यदि तुम देखो तो अच्छा है पर हमारे सामने हमें कायल करना चाहिए कि अमुक लेख या अमुक वाक्य कानून के शिकंजे में आने वाला है।" अन्त में भट्ट जी के इस प्रस्ताव को मालवीय जी ने स्वीकार कर लिया कि वह स्वयं लेख देखकर पास करेंगे। संयोगवश कुछ ही महीनों बाद मालवीय जी को बाहर जाना पड़ा। जब बाहर से आए तो लेख छप चुके थे। देखना प्रारम्भ किया। उसमें एक लेख उन्हें अवैधानिक प्रतीत हुआ तो बिना भट्ट जी से कहे ही उस छपे हुए फर्मे का फर्मा जितना था सबको मालवीय जी ने जलवा दिया। जब भट्ट जी को इस बात का पता लगा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ और वे क्रोध कर उठकर चले आए।

इसी प्रकार के कुछ अन्य कारणों से भट्ट जी ने मालवीय जी के यहाँ आना-जाना तथा उनसे बोलना तक बंद कर दिया। हफ्तों यही दशा रही। जब मालवीय जी ने देखा कि भट्ट जी बहुत अधिक नाराज हैं तो प्रसन्न करने का यत्न करने लगे। भट्ट जी नित्य नियम से गंगा स्नान करते थे। गर्मी का दिन था। मालवीय जी भी उन दिनों गंगा स्नान करने जाया करते थे। बहुधा उन्हें भट्ट जी मिल जाते। मालवीय जी जब प्रणाम करते तो मामूली तौर पर प्रणाम का उत्तर सिर हिला कर भट्ट जी दे देते। मालवीय जी बहुत चाहते कि अपनी नाराजी हम पर से हटायें और प्रसन्न होकर वार्तालाप करें पर इनका चित्त कुछ बेढब था। पहले दिन गंगा जी गए, मालवीय को देख और अपनी स्वांस चढ़ा प्राणायाम में और अधिक समय लगाया। मालवीय जी ऊब कर चले आए। दो-तीन दिन तक भट्ट जी ने इसी तरह उपेक्षा की। पर एक दिन मालवीय जी यह निश्चय

करके बैठे कि देखें कितनी देर में ध्यान टूटता है, बैठे रहे। अन्त में मदनमोहन को दृढ़ पाकर वे अपनी पूजा समाप्त कर उठे। आसन आदि उठा कर भट्ट जी घर के लिए चले। मालवीय जी ने इनसे गाड़ी पर बैठने को कहा पर आपने पीछा छुड़ाना चाहा। मालवीय क्यों मानने लगें। भट्ट जी ने कहा "मैं एक बहुत हो दीन हीन खोटा आदमी हूँ, आप एक महान पुरुष-बड़े लोगों में से हैं। मुझे आप क्यों बार-बार पकड़ना चाहते हैं।" मालवीय जी ने उत्तर दिया "कौनो बात जरूर आप में ऐसी है जिससे आपको छोड़ने को जी नहीं चाहता।"

भट्ट जी और मालवीय जी में वैचारिक तनाव चाहे जितना भी क्यों न रहा हो पर दोनों एक दूसरे को देखे बिना नहीं रह सकते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मालवीय जी और भट्ट जी का निकट पारिवारिक संबंध तो था ही साथ-साथ उनका अपना व्यक्तिगत संबंध भी था। वे कांग्रेस के अधिवेशनों में साथ-साथ जाते थे। राजनीति, साहित्य, समाज-सुधार आदि क्षेत्रों में दोनों साथ-साथ कोर्य करते थे। "हिन्दी-प्रदीप" में भी पंडित मदन मोहन मालवीय लिखते थे। आपके निम्नांकित चार लेख "हिन्दी-प्रदीप" में प्रकाशित मिलते हैं - (१) पिष्ट पेषण[१] (२) हर एक आदमियों का एक-एक "मोटो" सिद्धान्त होता है[२]। (३) मिर्जापुर के हिन्दुओं की नम्रता और मुसलमानों का दुराग्रह[३]। (४) नया न्यायशास्त्र[४]।

मालवीय जी के कुछ पत्र भी मेरे पास हैं जो मेरे पिता डा० दिवस्पति भट्ट की प्रशंसा में और एक मेरे नाना पंडित जनार्दन भट्ट के विषय में लिखा हुआ है। एक हिन्दी-पत्र की यथार्थ प्रतिलिपि इस प्रकार है—

श्रीः

आजकल के चिकित्सा के क्रमों में होमियोपैथी का भी अच्छा स्थान हो रहा है। मैंने अनेक बार होमियोपैथी के द्वारा रोगियों को अचरजमय लाभ होते देखा है। इस संबंध में डाक्टर दिवस्पति भट्ट ने अपने सब विचार मुझे सुनाए हैं और मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उन्होंने काशी में एक होमियोपैथी का दातव्य औषधालय खोलने का निश्चय किया है। डा० दिवस्पति भट्ट से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। वह एक योग्य चिकित्सक और विश्वासपात्र सज्जन हैं। मुझे आशा है कि उनका यह सत्प्रयास सफल होगा और इससे गरीब दुखियों को लाभ पहुँचेगा।

काशी — मदन मोहन मालवीय

माघ कृ० २, १९८९ वि०

———

१ हिन्दी-प्रदीप—मार्च १८८० पृ० १२-१६
२ " अक्टूबर १८८१, पृ० १३-१४
३ " " " पृ० १४-२१
४ " अक्टूबर से दिसम्बर १८८७, पृ० २७-३२

भारत कला-भवन

श्री रायकृष्णदास
निदेशक—भारत कला भवन

सन् १९२० में भारत कला भवन की स्थापना हुई। कवीन्द्र रवीन्द्र उसके आजीवन सभापति हुए तथा आचार्य अवनीन्द्र नाथ ठाकुर आजीवन उपसभापति। तब से इसकी उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है, जिसकी सराहना देशीय और विदेशी कला-मर्मज्ञ तथा कला रसिकों ने की है। अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के अनेक विद्वानों के मत से तो यह संग्रह कई दृष्टियों से अनोखा है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का यह संग्रहालय बनारस के मुख्य आकर्षणों में से एक है, जिसमें भारतीय चित्र, वसन, आभूषण, सिक्के, मूर्तियाँ, धातु प्रतिमाएँ, मृण्मूर्तियाँ, ऐतिहासिक पांडुलिपियाँ तथा पत्र एवं भारतीय कला और पुरातत्व की अन्य सामग्री संगृहीत है।

संग्रहालय का चित्रकला विभाग विश्व के उत्तमोत्तम चित्र संग्रहालयों में एक है, जिसमें बंगाल के पाल राजाओं राजपाल एवं गोविन्द पाल के समय के तिथि युक्त दुर्लभ ताल पत्र पोथियों से लेकर, आधुनिक चित्रकारों के प्रतिनिधि उदाहरण संगृहीत हैं।

जिस प्रकार पाल राजाओं के संरक्षण में पूर्वी भारत में पाल शैली विकसित हुई उसी प्रकार पश्चिम भारत के व्यापारियों के संरक्षण में जैन धर्म संबंधी चित्र बने। कला भवन में उत्तराध्ययन तथा कल्प सूत्र की कई प्रतियाँ अपभ्रंश शैली में हैं, इनके अतिरिक्त कुछ लोक काव्यों के अंकन भी इस शैली में हैं जो इतर प्रदेशों में बने।

मुगल चित्रों में कलम की बारीकी, मीने सरीखे ओपदार रंगों की छटा अनुपम है। यों तो मुगल कालीन अनेक चित्र यहाँ पर हैं किन्तु हम्जानामा के दो चित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बाल सम्राट् अकबर को साहसिक कथाओं से बड़ा प्रेम था और शासन के प्रारंभिक वर्षों में ही उसने हजरत मुहम्मद के चाचा अमीर हम्जा के साहसिक कार्यों को तूलिका बद्ध करा लिया था। पिछले वर्षों मुगल शैली की एक अद्वितीय कृति कला भवन को प्राप्त हुई, सम्राट् अकबर के शाही चित्रकारों द्वारों चित्रित 'अनवार ए सुहैली' की यह प्रति लाहौर में तैयार हुई। सम्राट् जहाँगीर एवं शाहजहाँ कालीन अनेक कृतियाँ इस संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

राजस्थानी चित्रों के मोहक रंगों तथा आकर्षक लता-वितानो का तो कहना ही क्या! कृष्ण लीला तथा शृंगार संबंधी काव्यों पर आधारित ये चित्र स्वयं में ही काव्य बन गए हैं। यह शैली १७ वीं शती में आकर्षक रूप ले लेती है, मेवाड़, बूंदी आदि रियासतें इसमें अग्रणी थीं। यह शैली अत्यन्त बहुरूप और व्यापक है। १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब मुगल साम्राज्य की इमारत ढह रही थी, कलाकारों ने शान्ति की खोज

में पहाड़ी एवं राजस्थानी रियासतो में आश्रय लिया, वहाँ के कला पारखी शासकों ने इनका उचित सम्मान किया और कला सृजन का सुअवसर दिया। जयपुर, बीकानेर, दतिया, गुलेर, कांगड़ा एवं जम्मू आदि रियासतों में इस युग में जिस सौन्दर्य का अंकन किया गया वह कला के इतिहास में बेजोड़ है।

कोई भी कला एक-रस नहीं चलती रहती, आदान-प्रदान स्वाभाविक है। अतएव इन कला शैलियों पर भी बढ़ती हुई अंग्ल कला शैली का प्रभाव पड़ा और पश्चिमी वाटर-कलर टेकनिक में चित्र बनने लगे। इस तरह के चित्रों का एक बहुत बड़ा संग्रह यहाँ पर है। अनेक प्रकार की विदेशी सामग्री, स्त्री पुरुषों के व्यक्ति चित्रण तथा अबरख के टुकड़ों पर अंकित विभिन्न वेशभूषाओं में अंकित आकृतियाँ अत्यन्त मनोहारी प्रतीत होती हैं। यह चित्र शैली जिसे ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम पर कंपनी शैली कहा गया, अपने ऐतिहासिक महत्व के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

इन सब पुरानी शैलियों के अतिरिक्त यहाँ पर लगभग सभी प्रमुख आधुनिक कलाकारों की कृतियाँ है। श्री असित कु० हलदर की कलाकृति की कमी भी हाल ही में खरीदे हुए चित्र 'क्लाउडी नाइट' से पूरी हो गई।

चित्रों के बाद प्रस्तर एवं मृण्मूर्तियों की बारी आती है। मूर्तियों की संख्या यहाँ अपेक्षाकृत कम हैं किंतु अपनी कलात्मकता एवं ऐतिहासिक महत्व के कारण कला क्षेत्र में इनका विशेष स्थान है। गुप्तकालीन मूर्तियों में कार्तिकेय, गोवर्धनधारी कृष्ण, इन्द्राणी एवं बुद्ध उल्लेखनीय हैं। मध्यकालीन मूर्तियों में हर-गौरी तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में भी प्रदर्शित हो चुकी हैं।

राजघाट, कौशाम्वी, अहिच्छत्र आदि स्थानों से प्राप्त सुन्दर मृण्मूर्तियाँ अपनी भाव भंगिमा के कारण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। अनेक प्रकार के सुन्दर केश-विन्यासों के उदाहरण इन मृण्मूर्तियों में मिलते हैं।

कला भवन के वसन एवं हस्त उद्योग विभाग की उन्नति का श्रेय मुख्यतः ऑल इण्डिया हैण्डी क्राफ्ट्स बोर्ड को है। यहाँ का भारतीय वसन विभाग देश एवं विदेश के महत्वपूर्ण संग्रहालयों के समकक्ष ही नहीं प्रत्युत एक प्रतिनिधि एवं अद्वितीय संग्रह है। रंग विरंगे कश्मीरी 'जामेवार' एवं 'कनी' शालों के अनेक उदाहरण यहाँ पर हैं। बनारसी ज़री आज भी देश विदेशों में उसी प्रकार लोकप्रिय है जितनी प्राचीन काल में। विभिन्न प्रकार के बेल बूटों वाले बनारसी किमखाब (ब्रोकेड) के थान, सिले हुए वस्त्र, साड़ियाँ तथा चौकोरे यहाँ संगृहीत हैं जो बीती हुई सम्पन्नता की यादगार स्वरूप हैं। अन्य प्रकार के रेशमी वस्त्रों में मशरू (रेशम में सूत की बुनावट), हेमरू (रेशम में रेशम की फूलदार बुनावट), तथा बंगाल की बालूचर, गुजरात की पटोला एवं चंदेरी की साड़ियाँ तो अपने ढंग की अनोखी हैं।

सज्जात्मक कलाओं में राजघाट से प्राप्त स्फटिक का मानव-मुख युक्त शुंगकालीन ताबीज अतीव सुन्दर है। गांधार की मणियाँ और नग जिन पर सुन्दर आकृतियाँ बनीं हैं एवं कुछ आभूषण भी इस संग्रह में हैं। १९ वीं शती में बनारस अपने गुलाबी मीने के

लिए प्रसिद्ध था। उसके भी दो उदाहरण—कड़े एवं छोटी डिब्बी यहाँ पर हैं। यशब की सुन्दर मूठें तथा सौन्दर्य प्रेमी सम्राट् जहाँगीर के समय की प्यालियाँ, जिन पर लेख खुदे हैं, विशेष महत्वपूर्ण हैं। 'शाह सलीम' अंकित अंगुस्ताना उस युग की चमक-दमक की याद दिलाता है।

कला भवन का प्रागैतिहासिक विभाग भी अपना पृथक् स्थान रखता है, इसमें ताम्रयुगीन कई पूजनीय आकृतियाँ, हथियार एवं भारत सरकार द्वारा प्रदत्त मोहेंजोदड़ो की कुछ दुर्लभ वस्तुएँ हैं।

दृश्य तथा श्रव्य शिक्षा का महत्व हाल ही में ज्ञात हुआ है। इस दृष्टि से संग्रहालय सर्वोत्तम माध्यम है। व्यावहारिक शिक्षा, मुख्य रूप से भारतीय इतिहास तथा ललितकला के लिए भी यह एक उत्तम साधन है।

संग्रहालय का व्यय मुख्यतः चालीस हजार रुपये के आवर्त्तक-अनुदान से चलता है। कला भवन को सोलह हजार रुपयों का अनुदान उत्तर प्रदेश सरकार के सांस्कृतिक कार्य एवं वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग से प्रति वर्ष प्राप्त होता है। उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग से भी ३,५००) रुपयों का आवर्त्तक अनुदान प्रति वर्ष प्राप्त होता है। विहार एवं मध्य प्रदेश सरकार तथा भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय तथा सांस्कृतिक कार्य एवं वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग द्वारा विशेष कार्यों के लिए कला भवन को अनावर्त्तक अनुदान भी मिले हैं।

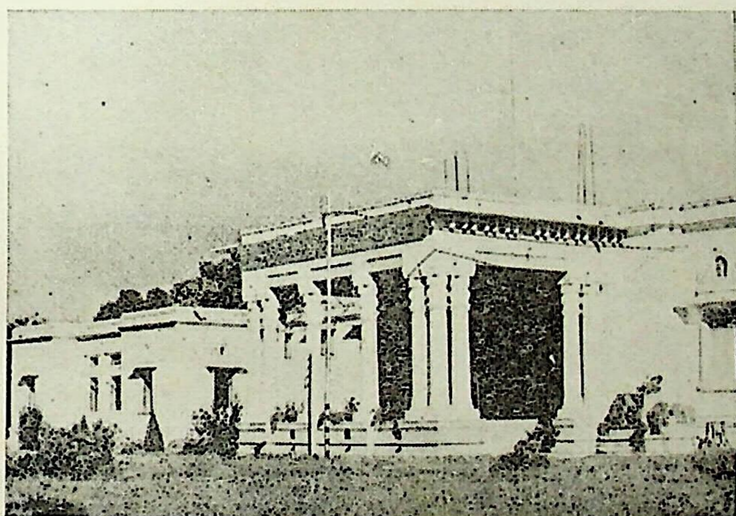
उत्तर प्रदेश सरकार ने तीन लाख रुपये का विशेष अनुदान भवन के विस्तार एवं संग्रह प्रदर्शन के हेतु दिया है।

किन्तु संग्रहालय अभी भी विपन्न स्थिति से गुजर रहा है एवं इसमें निम्नलिखित कमियाँ हैं :

(क) स्थान
(ख) साज-सामान
(ग) संरक्षण
(घ) पंजीकरण
(ङ) संग्रह के रिक्त स्थानों की पूर्ति
(च) प्रकाशन
(छ) आवश्यक स्थायी कर्मचारी

इन सब सुविधाओं के अभाव में संग्रहालय की प्रगति संभव नहीं।

कला भवन संग्रहालयशास्त्र (म्यूजियोलाजी) का कोर्स भी प्रारंभ करना चाहता है।



भारत कला-भवन